वर्ष ४०, अंक १ जनवरी २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
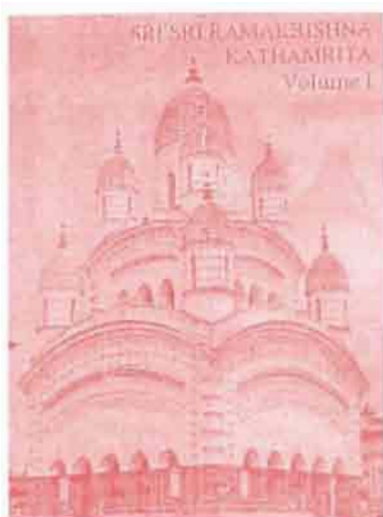
RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X (English version of Sri Ma Darshan) Rs. 900.00 per set
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00
- A Short Life of M. Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी, २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक १

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जनजीवन की प्रत्येक विधा में एक नवजीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - ऐसी कालजयी विभूतियों का जीवन एवं कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होता है और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करता है। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि इन दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई न केवल पूरे भारत, अपितु सम्पूर्ण जगत् के पारस्परिक सद्‌भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ३ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर इस 'ज्योति' ने भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों के अन्तर को उद्‌भासित किया है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख बाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बँटाएँगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १०००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मरामानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी हेतु 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४० जनवरी २००२ अंक १

नीति-शतकम्

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः ।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे ।।५०।।

अन्वयः – अम्भोदवर! 'त्वम् एव चातकाधारः असि' इति केषां गोचरः न? अस्माकं कार्पण्य-उक्तिं किं प्रतीक्षसे?

भावार्थ – हे श्रेष्ठ मेघ, कौन नहीं जानता कि तुम्हीं चातक के प्राणाधार हो? तो फिर तुम क्यों हमारे दीन वचनों की प्रतीक्षा कर रहे हो? तात्पर्य यह कि पालक को अपने आश्रितों द्वारा याचना करने के पूर्व ही उनकी आवश्यकता को जानकर उसकी पूर्ति करनी चाहिए।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ।।५१।।

अन्वयः – रे रे मित्र चातक! सावधानमनसा क्षणं श्रूयताम्, गगने बहवः अम्भोदाः वसन्ति, सर्वे अपि एतादृशाः न, केचित् वसुधां वृष्टिभिः आर्द्रयन्ति, केचित् वृथा गर्जन्ति, यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतः दीनं वचः मा ब्रूहि ।

भावार्थ – रे मित्र चातक, क्षण भर के लिए सावधान चित्त के साथ मेरी बात सुन। नभमण्डल में बहुत-से बादल भ्रमण करते रहते हैं, परन्तु सभी एक समान (उदार) नहीं होते। उनमें से कोई तो वर्षा करके पृथ्वी को सराबोर कर देते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं कि केवल गरजते ही रहते हैं। अतएव तू हर मेघखण्ड के समक्ष अपनी दीन वाणी मत बोल। तात्पर्य यह कि जगत् में अनेक लोग धनवान होते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश का ऐश्वर्य दूसरों के दिखाने के लिए ही होता है, केवल कोई-कोई ही दान के द्वारा दूसरों की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

– १ –

(भैरवी-एकताल)

छोड़ वाग्जाल को, नाम ही जपा करो ।
भोग-रोग से विरत, त्याग में तपा करो ।।

निज स्वधर्म में रहो, सत्य हेतु सब सहो ।
मोह, भय, प्रमाद को, शीघ्र ही दफा करो ।।

कार्य ईशप्रीति से, गाँठ बाँध लो इसे ।
मूल को सँभालकर, जो भी हो नफा करो ।।

तत्त्वबोध ज्ञान हो, औ सतत ही ध्यान हो ।
ओतप्रोत हैं प्रभू, अर्चना सदा करो ।।

नाम, काम, दाम सब, जोड़ दुख बढ़ा न अब
'रामकृष्ण' नाम निज, दिव्य सम्पदा करो ।।

– २ –

(भैरवी-एकताल)

दिन बहुत गुजर गये, नाथ अब दया करो ।
स्निग्ध स्पर्श से प्रभो, मेरी भवव्यथा हरो ।।

कण्ट-कीट पूर्ण मग, किन्तु थम रहे न पग ।
जब कभी कुपथ चलूँ, कर सरोज से धरो ।।

विघ्न कोटि पार कर, आ पड़ा हूँ द्वार पर ।
पाँव अब न छोड़ता, जो कहो 'टरो, टरो'।।

तर गये अधम बड़े, किन्तु हम रहे खड़े ।
भूलना स्वधर्म मत, लोकलाज से डरो ।।

शून्य है हृदय पड़ा, अन्धकार है बड़ा ।
चित्त में विराजकर, भाव-भक्ति से भरो ।।

तुम प्रकाश रूप हो, दिव्यता स्वरूप हो ।
प्राण के प्रवाह में, ज्योति-बिन्दु हो झरो ।।

– *विदेह*

विवेकानन्द-जीवनकथा (२)

स्वामी प्रेमेशानन्द

२. शिक्षा

विश्वनाथ को कामकाज के निमित्त कई वर्ष मध्यप्रदेश (अब छत्तीसगढ़) के रायपुर नगर में जाकर निवास करना पड़ा था। दो वर्ष तक नरेन्द्रनाथ भी वहाँ रहे। तब उनकी आयु चौदह-पन्द्रह साल की थी। स्कूल की पढ़ाई के दबाव से मुक्त होकर वहाँ उन्होंने अंग्रेजी तथा बँगला साहित्य के अनेक ग्रन्थ पढ़े और दोनों भाषाओं में पारंगत हो गये। रायपुर से लौटने के बाद वे पुन: मेट्रोपॉलिटन विद्यालय में भरती हुए।

परीक्षा के दो-तीन दिन पहले उन्होंने देखा कि उनका रेखागणित पढ़ना बिल्कुल भी नहीं हो सका है। उन दिनों प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिए युक्लिड की चार खण्डों में लिखी ज्यामिति निर्धारित थी। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि इस ग्रन्थ को पूरा किये बिना वे न तो भोजन करेंगे और न ही लेटेंगे। इस संकल्प के साथ उन्होंने उस ग्रन्थ को लगातार पढ़ना शुरू किया और चौबीस घण्टों के भीतर पूरी ज्यामिति पर अधिकार प्राप्त कर लिया। बीच के दो वर्ष पढ़ाई न करने के बावजूद प्रवेशिका परीक्षा में वे प्रथम श्रेणी के साथ उत्तीर्ण हुए थे।

इसके बाद वे प्रेसीडेंसी कॉलेज में दाखिल हुए; परन्तु वहाँ दूसरी वार्षिक श्रेणी में पहुँचकर वे जनरल एसेम्बली कॉलेज में चले गये। उस समय भी वे अंग्रेजी में अच्छा भाषण दे लेते थे। एक दिन कॉलेज में एक सभा हुई और सुविख्यात वक्ता श्रीयुत् सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय उसकी अध्यक्षता करने आये। मित्रों द्वारा अनुरोध किये जाने पर नरेन्द्रनाथ उसमें लगभग आधे घण्टे तक अंग्रेजी में बोले। सुरेन्द्रनाथ ने उस व्याख्यान पर मुग्ध होकर वक्ता की खूब प्रशंसा की थी।

अपनी तीक्ष्ण बुद्धि, कोमल स्वभाव, मधुर कण्ठ व मोहक रूप के कारण वे बचपन से ही सबके प्रिय बन जाते थे। सहपाठीगण उनके परम अनुरागी थे, तथापि उनमें से सभी उनके पक्षधर न थे; क्योंकि ढोंग तथा दिखावा उन्हें बिल्कुल भी सहन नहीं होता था। किसी को कोई बुरा आचरण करते देखने पर वे उसका तीव्र प्रतिवाद किये बिना रह नहीं पाते थे। इसीलिए निस्सार तथा चरित्रहीन छात्र उनसे डरते थे और पीठ-पीछे उनकी आलोचना भी करते थे। हल्के विषयों पर चर्चा तथा बेकार के आमोद-प्रमोद में वे अपना समय नहीं गँवाते थे। अध्ययन, सच्चर्चा, गायन-वादन तथा व्यायाम के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में उनका मन नहीं लगता था।

उनका जब जिस विषय से लगाव होता, वे उसी में अपना सारा मन-प्राण झोंक देते। एक बार मन में पाश्चात्य दर्शनशास्त्र को जानने की इच्छा जागने पर उन्होंने अंग्रेजी के सभी प्रमुख ग्रन्थकारों के दर्शन-विषयक ग्रन्थ पढ़ डाले थे। कॉलेज में दर्शनशास्त्र के अंग्रेज प्राध्यापक ने उनकी बुद्धिमत्ता पर विस्मित होकर कहा था कि जर्मनी या इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में भी दर्शनशास्त्र का कोई ऐसा बुद्धिमान छात्र उनके देखने में नहीं आया।

उन दिनों बंगाल के समाज में अंग्रेजी शिक्षा का प्रवेश हो रहा था, जिसके फलस्वरूप देश की भावधारा में परिवर्तन आ रहा था। राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज का धर्म महर्षि देवेन्द्रनाथ द्वारा पुष्ट होकर क्रमश: श्रीयुत् केशव सेन की वाग्विदग्धता के द्वारा किंचित् भिन्न रूप धारणकर बंगाल में प्रसारित हो रहा था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अनेक युवकों ने ब्राह्मधर्म अंगीकार कर लिया था। नरेन्द्रनाथ भी परम्परागत हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता तथा आचार-बहुलता आदि के चलते उसके प्रति अपनी श्रद्धा को खोकर और ब्राह्मधर्म की उदारता पर मुग्ध होकर, उसी समाज के सदस्य हो गये थे।

नरेन्द्रनाथ को बचपन से ही ईश्वर-चिन्तन बड़ा प्रिय लगता था। कभी-कभी तो वे ध्यान करते हुए ही पूरी रात निकाल देते थे। जिस प्रकार वे अपने गायन के द्वारा दूसरों को मुग्ध करते, उसी प्रकार वे स्वयं भी भजन के भावों में पूरी तौर से डूब जाते। अपने घर में भीड़-भाड़ बढ़ जाने के कारण, पढ़ाई-लिखाई में सुविधा की दृष्टि से वे पड़ोस के एक निर्जन मकान में एकाकी निवास करते और निरामिष भोजन तथा फर्श पर कम्बल बिछाकर उसी पर शयन करते।

नरेन्द्रनाथ के पड़ोसी सुरेन्द्रनाथ मित्र श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के शिष्य थे। एक दिन परमहंसदेव सुरेन्द्रनाथ के घर आये हुए थे। उन्हें भजन सुनना अत्यन्त प्रिय था। इसी कारण नरेन्द्रनाथ से दो-एक भजन गाने का अनुरोध करके सुरेन्द्रनाथ उन्हें अपने घर बुला लाये थे। नरेन्द्रनाथ के गाना आरम्भ करते ही परमहंसदेव समाधिस्थ हो गये।

नरेन्द्रनाथ को देखते ही परमहंसदेव उन्हें धर्मसाधना के उत्तम अधिकारी के रूप में पहचान गये। सुरेन्द्र तथा एक अन्य शिष्य रामचन्द्र से उनके बारे में बहुत-सी बातें पूछने के बाद वे नरेन्द्रनाथ से एक दिन दक्षिणेश्वर आने को कह गये। उनके आदेशानुसार एक दिन रामचन्द्र उन्हें साथ लेकर दक्षिणेश्वर गये। परमहंसदेव ने नरेन्द्रनाथ के साथ बड़े अपनापे का व्यवहार किया और उनसे पुन: आने का अनुरोध किया।

परमहंसदेव की अपार भगवत्-प्रीति देखकर नरेन्द्रनाथ विस्मित हुए, परन्तु उनका बालकवत् व्यवहार नरेन्द्रनाथ को अस्वाभाविक-सा लगा। उन्होंने सोचा – शायद ज्यादा 'भगवान' 'भगवान' करने से इनका सिर फिर गया है। तथापि वे उन्हें बड़े पसन्द आये। वे एक अन्य दिन भी उनसे मिलने गये और उसी दिन से उनके मन में धारणा हुई कि परमहंसदेव एक महा-शक्तिसम्पन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि उस दिन उन्होंने नरेन्द्रनाथ के सीने पर हाथ फेरकर उन्हें समाधिस्थ कर दिया था।

अब से नरेन्द्रनाथ बीच-बीच में दक्षिणेश्वर जाने लगे। उन्होंने पुस्तकें पढ़कर धर्म के विषय में जो सारी धारणाएँ बनायी थीं, इन 'पागल ब्राह्मण' ने उन सबमें उलट-फेर कर दिया। नरेन्द्रनाथ का विश्वास था कि भगवान साकार नहीं हो सकते, परन्तु ये तो प्रतिदिन ही ईश्वर के साकार रूप का दर्शन करते हैं और इसके अतिरिक्त भी वे इतने प्रकार से उनकी अनुभूति करते हैं कि उसकी कोई सीमा ही नहीं हो सकती। भगवान को छोड़ ये अन्य कुछ भी नहीं जानते और भगवान के बारे में कुछ भी सुनते ही आनन्दविभोर होकर अपनी बाह्य चेतना खो बैठते हैं। धर्म-विषयक ऐसा कोई भी प्रश्न नहीं है, जिसका वे सटीक उत्तर न जानते हों, तथापि उन्होंने किसी भी पुस्तक का अध्ययन नहीं किया है; आचार-व्यवहार में वे ठीक कट्टर हिन्दुओं के समान हैं, परन्तु उनमें असीम उदारता भी है; रानी रासमणि द्वारा प्रतिष्ठित कालीजी की मूर्ति को अपनी गर्भधारिणी माँ के समान मानकर वे दिन-रात उनके साथ बातें करते हैं, उनसे हठ करते हैं; स्पर्श मात्र से ही वे किसी भी व्यक्ति को समाधिस्थ कर सकते हैं, परन्तु उनमें अभिमान का लेश मात्र भी नहीं है; बीच-बीच में वे एक छोटे शिशु के समान अपने पहनने के वस्त्र काँख में दबाकर घूमते रहते हैं; और फिर जीवों के दु:ख से कातर होकर वे निरन्तर लोगों को धर्म की बातें सुनाते रहते हैं। नरेन्द्रनाथ उनके साथ जितना ही मिलने-जुलने लगे, उतना ही उनके चरित्र की उदारता तथा गम्भीरता देखकर मुग्ध होने लगे।

परमहंसदेव को भी नरेन्द्रनाथ में साक्षात् नारायण ही दीख पड़ते थे। वे उनसे इतना प्रेम करते कि कुछ दिनों तक नरेन्द्र के मिलने न आने पर वे 'नरेन' 'नरेन' कहते हुए अधीर हो उठते; यहाँ तक कि कभी-कभी तो वे निकटवर्ती झाऊवन में जाकर उन्हें पुकारते हुए रोने लगते; या कभी-कभी तो वे उन्हें देखने के लिए भाड़े की गाड़ी लेकर उनके घर पहुँच जाते।

नरेन्द्रनाथ अतीव श्रद्धा के साथ परमहंसदेव के हर कार्य तथा हर वाक्य को परखने तथा समझने का प्रयास करने लगे। वे जो कुछ भी कहते, नरेन्द्रनाथ बारम्बार जाँच करके देखते कि उनकी बातों तथा आचरण में मेल है या नहीं। उनके कई कार्य ऊपरी तौर से निरर्थक प्रतीत होते, परन्तु नरेन्द्रनाथ उनके विषय में विस्तार से छान-बीन करते और विश्लेषण करके उनके उद्देश्य को जानने का प्रयास करते।

एक दिन एक स्थान पर एक व्यक्ति ने परमहंसदेव को एक गिलास पानी दिया। नरेन्द्रनाथ ने देखा कि प्रयास करके भी वे उस पानी को पी नहीं सके। बाद में विशेष रूप से खोज करने पर उन्हें पता चला कि वह व्यक्ति बाहर से सदाचारी प्रतीत होने पर भी वास्तविक जीवन में अत्यन्त दुराचारी था।

परमहंसदेव रुपये-पैसे छू नहीं पाते थे, कभी छू जाने पर उन्हें सर्पदंश के समान पीड़ा होती थी। एक दिन नरेन्द्रनाथ ने छिपाकर उनके बिस्तर के नीचे एक रुपये का सिक्का रख दिया। बिस्तर पर बैठते ही परमहंसदेव पीड़ा से आकुल होकर उठ खड़े हुए। नरेन्द्रनाथ ने इस प्रकार उनकी बारम्बार परीक्षा करके समझ लिया कि परमहंसदेव अपनी इच्छा से ऐसा नहीं करते, बल्कि उनका महापवित्र शरीर-मन काम-कांचन का जरा-सा भी स्पर्श सहन नहीं कर सकता।

नरेन्द्रनाथ के बी.ए. पास कर लेने के बाद एक धनाढ्य व्यक्ति ने नरेन्द्रनाथ के साथ अपनी कन्या का विवाह कर देने का प्रस्ताव रखा। पिता विश्वनाथ भी इस पर सहमत हो गये। नरेन्द्रनाथ विवाह करके गृहस्थ हो जायेंगे और परिवार के पालन में जीवन समर्पित कर देंगे – यह समाचार सुनते ही परमहंसदेव 'माँ-काली' के समक्ष रोते हुए बारम्बार प्रार्थना करने लगे – "माँ, नरेन को संसारी मत बनाना।" सहसा विश्वनाथ का देवावसान हो जाने से विवाह में एक बड़ी बाधा आ गयी; यह विवाह फिर हुआ ही नहीं।

विश्वनाथ काफी रुपये कमाया करते थे, पर उनके देहान्त के बाद पता चला कि वे कुछ भी छोड़कर नहीं जा सके हैं। अब अनेक सगे-सम्बन्धियों तथा आश्रितों का पालन करना तो दूर, संसार के अनुभवों से रहित नरेन्द्रनाथ के लिए अपने भाई-बहनों तथा माता का भरण-पोषण भी कठिन हो गया। मौका देखकर उनके पिता के अन्न पर पले सम्बन्धियों ने भी उनके साथ शत्रुतापूर्ण आचरण आरम्भ कर दिया। एक सम्बन्धी ने तो नरेन्द्रनाथ के निवास-भवन के सर्वश्रेष्ठ अंश पर दावेदारी जताते हुए अदालत में नालिश कर दी। काफी मुकदमेबाजी के बाद नरेन्द्रनाथ को मकान का स्वामित्व तो मिला, परन्तु मुकदमे का खर्च चलाने में उनका सर्वस्व होम हो गया।

सुख की गोद में पले नरेन्द्रनाथ को चरम निर्धनता के दिन देखने पड़े। काफी चेष्टा के बाद भी उन्हें कोई काम-काज नही मिला। जूते फट गये थे, पर वे नये जूते नहीं खरीद सके। कलकत्ते की धूलभरी सड़कों पर उन्हें नंगे पाँव ही भटकना पड़ा। एक-एक कर सारे कुर्ते फट जाने पर उन्होंने कुर्ते पहनना बन्द कर दिया; अब वे शरीर को केवल चादर से ढँककर चलने लगे। अन्त में अन्नाभाव होने पर अल्पाहार व

अनाहार के कारण उनका शरीर क्षीण होने लगा। पर इस बात की उन्होंने किसी को भनक तक नहीं लगने दी। अनेक बड़े-बड़े लोगों के पुत्रों के साथ उनकी मित्रता थी। वे लोग बीच-बीच में उन्हें अपनी गाड़ी में बिठाकर सैर कराने ले जाते। वे भी उन लोगों के साथ पूर्ववत् ही प्रफुल्ल भाव से मेल-जोल करते। उन लोगों को सन्देह तक नहीं होता कि नरेन्द्रनाथ ने सारे दिन कुछ भी नहीं खाया है। फिर घर लौटकर वे माँ से कहते, "माँ, मैं अमुक के घर खा आया हूँ।" उनके ऐसा न कहने पर घर के अन्य लोगों के लिए खाना कम पड़ जाता।

कलकत्ते जैसी महानगरी में नरेन्द्रनाथ को कोई कार्य नहीं मिला – यह क्या विधाता की कोई साजिश थी! एक दिन वे हाथ में प्रार्थनापत्र ले नंगे-पाँव तथा खाली-पेट दिन भर नौकरी के लिए दफ्तरों की खाक छानने के बाद रात को घर लौट रहे थे, तभी घनघोर वर्षा शुरू हो गयी। यह सोच कि वर्षा थोड़ी रुक जाय तो घर जाऊँगा, थके-मादे वे एक मकान के बरामदे में विश्राम करने लगे। पूरे दिन के उपवास, थकान व चिन्ताओं से वे इतने निढाल हो गये थे कि थोड़ा बैठते ही उन्हें गहरी निद्रा ने घेर लिया और वे सारी रात वहीं पड़े रह गये।

नरेन्द्रनाथ द्वारा अपनी इस दुर्दशा की बात सबसे छिपाये रखने के बावजूद श्रीरामकृष्ण सब कुछ जान लेते थे। उनका जीर्ण शरीर तथा म्लान मुख देखकर वे व्याकुलतापूर्वक रो उठते। एक दिन नरेन्द्रनाथ अपने एक धनी मित्र को साथ लेकर दक्षिणेश्वर गये। परमहंसदेव सबको सुनाते हुए कहने लगे, "नरेन इस समय बड़ी बुरी परिस्थिति में पड़ा है। यदि मित्रगण उसकी सहायता कर सकें, तो बड़ा अच्छा हो।" धनी मित्र के कलकत्ते लौट जाने पर नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण से कहा, "आपने उन लोगों के सामने ये सब बातें क्यों कहीं?" श्रीरामकृष्ण इसे सुनकर रोते हुए बोले, "अरे नरेन, मैं तेरे लिए द्वार-द्वार भिक्षा तक माँग सकता हूँ!"

नरेन्द्रनाथ चाहते तो पूर्व-प्रस्तावित विवाह को स्वीकार करके घोड़ेगाड़ी पर सवार होकर घूम सकते थे। परन्तु उन्होंने काम-कांचन-त्यागरूप महाव्रत अंगीकार किया था, श्रीरामकृष्ण के चरणों में उन्होंने अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर दिया था; उन्हें विश्वहित के लिए अपनी समस्त कामनाओं-वासनाओं को तिलांजलि देनी थी!

जब अपने प्रयास से परिवार के लोगों के भरण-पोषण की व्यवस्था न हो सकी, तब नरेन्द्रनाथ ने सोचा – श्रीरामकृष्ण अपनी इच्छामात्र से कोई उपाय कर सकते हैं, अतः अब उन्हीं को पकड़ना उचित होगा। यह सोचने के बाद उन्होंने परमहंसदेव के पास जाकर अपना मनोभाव व्यक्त किया। सुनकर वे बोले, "रुपये-पैसों के लिए मैं माँ से नहीं कह सकता। तू स्वयं ही जाकर माँ से कह न!" नरेन्द्र ने कहा, "काली को न तो मैं समझता हूँ और न मानता हूँ; मेरी बात क्या वे सुनेंगी? मेरी ओर से आप ही माँ से कह दीजिए।" परन्तु वे स्वयं न जाकर हठ करने लगे कि नरेन्द्रनाथ स्वयं जाकर माँ से कहें। हार कर नरेन्द्रनाथ 'माँ-भवतारिणी' के मन्दिर में गये।

नरेन्द्रनाथ यह देखकर विस्मित रह गये कि इतने दिनों तक वे जिनको पाषाणमयी समझते थे, वे ही भवतारिणी काली आज सजीव हैं! अनन्त सौन्दर्यमयी तथा अनन्त प्रेममयी माँ अपने कमरे को आलोकित करती हुईं हँस रही हैं। देखते ही उनके हृदय का भक्ति-सरोवर तरंगायित हो उठा। माँ के चरणों में साष्टांग प्रणत होकर वे यह कहते हुए रोने लगे, "माँ, मुझे शुद्धा भक्ति दो, मैं और कुछ भी नहीं चाहता।" थोड़ी देर बाद जब वे माँ का दर्शन करके श्रीरामकृष्ण के पास लौट आये, तो उन्होंने पूछा, "माँ ने क्या कहा?" नरेन्द्रनाथ द्वारा सारी बातें बयान किये जाने पर उन्होंने एक बार फिर उन्हें काली-मन्दिर भेजा। इस बार भी माँ की भुवनमोहिनी हँसी देखकर नरेन्द्रनाथ जगत् की बातें भूल गये और उन्होंने माँ के चरणों में सिर टेककर शुद्धा भक्ति के लिए प्रार्थना की। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें तीसरी बार भी माँ के पास भेजा। परन्तु नरेन्द्रनाथ रुपये-पैसे माँग नहीं सके। श्रीरामकृष्ण यह देखकर नरेन्द्रनाथ पर बड़े प्रसन्न हुए और "ठीक है जा, उन लोगों को मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं होगा" – कहते हुए उन्हें वर प्रदान किया।

ईश्वर का चिन्तन करते-करते परमहंसदेव का शरीर बच्चों के समान कोमल हो गया था। एक दिन ठण्ड लग जाने से उनके गले में पीड़ा होने लगी और वह क्रमशः बढ़ते हुए रोहिणी या कैंसर रोग में परिणत हुई। श्रीयुत् सुरेन्द्रनाथ मित्र, महेन्द्रनाथ गुप्त आदि भक्तों ने बड़े-बड़े डॉक्टरों को बुलाकर उनकी चिकित्सा करानी आरम्भ की; परन्तु उनका रोग कैसे भी दूर नहीं हुआ। उनके गले में ऐसा घाव हो गया था कि वे किसी भी प्रकार का खाद्य-पदार्थ निगल नहीं पाते थे।

चिकित्सा की सुविधा के लिए उन्हें कलकत्ते के निकट स्थित काशीपुर के एक उद्यान-भवन में लाया गया। गृही भक्तगण अपने गुरुदेव की चिकित्सा तथा सेवा में पानी की तरह पैसे बहाने लगे और नरेन्द्र आदि युवा भक्तगण घर-बार छोड़कर दिन-रात गुरुदेव की सेवा-सुश्रूषा में तल्लीन हो गये।

नरेन्द्रनाथ अपने सम्बन्धियों की जिद के कारण ही बी.एल (कानून) पढ़ रहे थे। अब उन्होंने उसे छोड़कर अनन्य मन से गुरुदेव की सेवा तथा उनके उपदेशानुसार साधन-भजन में पूरा मन लगा दिया। परमहंसदेव की बीमारी गम्भीर है, वे अब अधिक दिन इस धराधाम पर नहीं रहेंगे – यह समाचार पाकर तब बहुत-से लोग उनका दर्शन करने को आने लगे और वे भी स्पर्श, दृष्टि या उपदेश के द्वारा उन लोगों में धर्मभाव का संचार करने लगे। उन्होंने अपने शिष्यों को नरेन्द्रनाथ की

शेष अगले पृष्ठ पर

सांसारिक जीवन में भगवत्प्राप्ति

स्वामी आत्मानन्द

यह प्रश्न बहुधा मनुष्य के मन में उठा करता है कि क्या सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भगवान को पाया जा सकता है? इसका उत्तर यदि थोड़े से शब्दों में देना हो, तो कहा जा सकता है कि यदि सांसारिक जीवन धर्म का अविरोधी हो, तो अवश्य वह व्यतीत करते हुए भगवत्प्राप्ति की जा सकती है। वस्तुतः भगवान तो हमारे भीतर विद्यमान हैं और वे हमें सतत प्राप्त हैं। पर जिसके माध्यम से हमें उस सत्य की प्रतीति करनी है, उस मन के मैला होने के कारण हमें वे अप्राप्त लगते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि मैं दर्पण में अपने को देखता हूँ और दर्पण में तह-की-तह धूल जमी हुई है। तो मैं अपना प्रतिबिम्ब उसमें नहीं देख पाऊँगा। जैसे-जैसे मैं दर्पण की धूल साफ करूँगा, वैसे-वैसे मुझे उसमें अपना प्रतिबिम्ब अधिकाधिक साफ दिखाई पड़ेगा और जब धूल पूरी तरह साफ हो जायगी, तब मैं जैसा हूँ ठीक वैसा ही दर्पण में दिखाई दूँगा। इसी प्रकार भगवान को देखने की बात है। हम अपने मन के दर्पण में भगवान को देखते हैं, उनकी प्राप्ति करते हैं। मन-दर्पण के मैला होने पर भगवान् के हमारे अपने भीतर होते हुए भी वे नहीं दिखाई पड़ते। मन-दर्पण के साफ होते ही वे जैसे हैं, वैसे ही भीतर प्रत्यक्ष होते हैं। इसी को भगवत्प्राप्ति कहा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि मन-दर्पण कैसे साफ हो? क्या उसे साफ करने के लिए हमें ससार को छोड़कर कहीं जंगल में जाना पड़ेगा? नहीं, वह तो नहीं करना होगा, पर हमें अपना सांसारिक जीवन इस प्रकार बिताना होगा, जिससे मन-दर्पण पर और मैल न जमे, बल्कि पहले की जमी मैल धीरे-धीरे साफ हो। सांसारिक जीवन बिताने की मूलतः दो पद्धतियाँ हैं। एक पद्धति तो वह है, जहाँ मनुष्य के सामने जीवन का कोई उच्चतर लक्ष्य नहीं होता, वह पशु-वृत्ति से ऊपर नहीं उठ पाता और मात्र इन्द्रिय-भोगों का जीवन व्यतीत करता है और दूसरी पद्धति वह है, जहाँ मनुष्य भगवत्प्राप्ति को अपने ज़ीवन का लक्ष्य मानता है और इसलिए ससार की अपनी समस्त क्रियाओं को तदनुरूप मोड़ देता है। पहली पद्धति से भगवान् नहीं मिलते, क्योंकि मनुष्य उन्हें नहीं चाहता, वह मात्र भोग-सुख चाहता है। दूसरी पद्धति से अवश्यमेव भगवान् की प्राप्ति होती है, क्योंकि मनुष्य अपने सासारिक कर्मों को इस प्रकार करता है, जिससे मन-दर्पण साफ होता जाता है।

श्रीरामकृष्ण से जब किसी ने पूछा कि क्या संसार में रहकर भगवान को पाया जा सकता है, तो उन्होंने उत्तर में कहा – हाँ। पर साथ ही यह कहना वे नहीं भूले कि यह तो तभी सम्भव है, जब तुम तो ससार में रहो पर संसार तुममें न रहे, जैसे नाव तो पानी में रहती है पर पानी नाव में नहीं रहता। यदि पानी नाव में रहने लगे तो नाव डूब जाएगी। इसी प्रकार यदि ससार मनुष्य में रहने लगे, तब तो सांसारिकता मनुष्य को डूबो देगी। प्रश्न उठता है कि हम तो संसार में रहें पर ससार हममें न रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? गीता उत्तर देते हुए कहती है कि उस उपाय का नाम है कर्मयोग। कर्मयोग वह रसायन है, जो हमें कमलपत्रवत् संसार-जल से अलिप्त रखता है। वैसे तो हमारा हर सासारिक कर्म हमारे मन-दर्पण पर सस्कार की धूल जमा देता है, पर जब हम योग का भाव लेकर कर्म करते हैं, तो कर्म फिर कर्मयोग बन जाता है और मन-दर्पण की धूल को साफ करने का सक्षम साधन हो जाता है।

कर्मयोग का मतलब है – कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को समझकर अकर्म और विकर्म का त्याग कर देना तथा कर्म को ईश्वर-समर्पित बुद्धि से करना। कर्म का मतलब है, कर्तव्य-कर्म। मनुष्य जिस स्थान पर है, वहाँ उसके लिए जो करना उचित है, उसे कर्म कहते हैं। अकर्म का तात्पर्य है आलस्य, प्रमाद, कर्म में उत्साह का अभाव। और विकर्म का अर्थ है – विपरीत कर्म, शास्त्र-निन्दित, समाज-निन्दित अशुभ कर्म। तो, कर्मयोग कहता है कि विकर्म और अकर्म से बचो तथा कर्म का सम्पादन करो, और वह भी भगवत्समर्पित बुद्धि से। अर्थात् कर्म करते हुए उस भावना को मन में मजबूत करो कि तुम अपना कर्म का कर्तापन और फल का भोक्तापन प्रभु को सौंप दे रहे हो एवं तुम उनके हाथों यन्त्रमात्र हो। इस भावना से युक्त होकर सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। ❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

असीम शक्ति तथा ज्ञान-वैराग्य के बारे में बताने के बाद, उन लोगों से कहा कि उनकी अनुपस्थिति में वे लोग नरेन्द्रनाथ के ही निर्देशानुसार चलें। फिर वे नरेन्द्रनाथ को भी अपने शिष्यो के परिचालन तथा धर्मप्रचार आदि कार्यो के विषय में विविध प्रकार के उपदेश देकर, उन्हें अपने देहान्त के बाद अपने धर्म-समन्वय के सन्देश का प्रचार करने के लिए तैयार करने लगे। अपने देहत्याग के एक-दो दिन पूर्व उन्होंने अपनी सारी आध्यात्मिक शक्तियाँ नरेन्द्रनाथ को सौंप दीं। इसके बाद एक दिन रात को सोते समय वे गम्भीर समाधि में निमग्न हो गये; उस समाधि से वे फिर लौटे नहीं। ❖ (क्रमशः) ❖

सुग्रीव-चरित (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'सुग्रीव-चरित' पर कुल ३ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके प्रथम प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

अनोखे प्रश्न करनेवाले भी मिल जाते हैं। एक व्यक्ति ने मुझसे बड़ा विचित्र प्रश्न किया। पूछा, "अनेक श्रद्धालु कहते हैं कि आप तुलसी के अवतार हैं और अनेक श्रद्धालु कहते हैं कि मुरारी बापू तुलसी के अवतार हैं, तो आप में से असली अवतार कौन है? मैं बोला, "भाई, हम दोनों तुलसी-पद का चुनाव तो लड़ नहीं रहे हैं, जो यह निर्णय हो कि तुलसी के पद का वास्तविक अधिकारी कौन है? मैं तो इतना ही कहूँगा कि आज से कुछ सौ वर्ष पूर्व रामकथा लिखी गयी और रामकथा में इतनी शक्ति है कि पहले तो तुलसीदास ने रामकथा का निर्माण किया, परन्तु उसके बाद से रामकथा ही तुलसीदासों का निर्माण कर रही है।" यह तो वस्तुत: रामकथा की ही महिमा है, व्यक्ति की नहीं। बल्कि तुलसीदास भी तुलसीदास थोड़े ही थे, रामकथा ने ही तो उन्हें तुलसीदास बनाया था। आपने तुलसीदास का वह दोहा पढ़ा होगा, जिसमें वे कहते हैं कि मैं तो भाँग था। तुलसी और भाँग दोनों बिल्कुल भिन्न प्रकार की चीजें हैं। तुलसी में जहाँ पवित्रता और सात्त्विकता है, उसे भगवान को अर्पित किया जाता है, वहीं भाँग में नशा है; पर गोस्वामीजी ने कहा कि मैं तो पहले भाँग था। तो आप तुलसीदास कैसे बन गए? उन्होंने कहा –

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु।। १/२६

– कलियुग में रामनाम ही कल्पतरु और हित का आगार है; जिसका जप करके भाँग रूपी मै तुलसी में परिणत हो गया।

तो यह भगवान का मंगलमय नाम और उनकी कथा का ही प्रभाव है। यह जो श्रद्धा आपके मन में आती है, उसमें रामकथा की ही महिमा है, व्यक्ति-विशेष का महत्त्व बस इतना ही है कि प्रभु ने कृपा करके उसके अपने माध्यम के रूप में चुन लिया है। 'मानस' में वक्ता और श्रोता – दोनों के लिए विशेषण दिए गए हैं, पर श्रोता के लिए कुछ अधिक उदारता से शब्दों का प्रयोग किया गया है। गोस्वामीजी कहते हैं –

श्रोता सुमति सुसील सुचि
कथा-रसिक हरिदास।। ७/६९ (ख)

वक्ता के लिए कहा गया कि वह सज्जन हो और श्रोता के लिए कई बातें जोड़कर कहीं गयी कि वह सुमति हो, सुशील हो, पवित्र हो, कथा-रसिक हो और भगवान का दास हो।

अब हम सुग्रीव-चरित के सन्दर्भ में आपके समक्ष कुछ सूत्र प्रस्तुत करेंगे। अगर केवल बहिरंग दृष्टि से विचार करके देखें तो सुग्रीव के चरित्र मे ऐसी कई दुर्बलताएँ दिखायी देती हैं, जिन्हें देखते हुए उन्हें जो दिव्य सौभाग्य और गौरव मिला, उसके वे पात्र दिखायी नहीं देते, पर 'मानस' में वस्तुत: इसे दो रूपों मे प्रस्तुत किया गया है। पहले आप पात्र बनिए फिर प्रभु को पाइए। एक भावपूर्ण प्रसंग है – जब महाराज जनक प्रभु के मंगलमय चरण धोते हैं, चरणों का प्रक्षालन करते हैं, तो वे स्वर्ण के पात्र में सुगन्धित जल भरकर ले आते हैं –

कनक कलस मनि कोपर रूरे।
सुचि सुगंध मंगल जल पूरे।।
निजकर मुदित राय अरु रानी।
धरे राम के आगे आनी।।
बरु बिलोकि दंपति अनुरागे।
पाय पुनीत पखारन लागे।। १/३२४/५-६, ८

भगवान राम के चरणों को पाने के लिए पात्रता की अपेक्षा है; स्वर्ण-पात्र चाहिए, स्वर्ण स्वयं प्रेम का प्रतीक है –

कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे।
तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे।। २/२०५/५

– जैसे तपाने से सोने पर चमक आ जाती है, वैसे ही प्रियतम के चरणों में प्रेम का निर्वाह करने से प्रेमी का गौरव बढ़ता है।

और इस स्वर्णपात्र में भरा हुआ जो जल है, वह क्या है – राम के चरणों के अनुराग रूपी जल के बिना मल का पूरी तौर से नाश नहीं होता –

रामचरन अनुराग नीर बिनु
मल अति नास न पावै।। वि. प. ८२

इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति के अन्त:करण में प्रेम हो, उसमें अनुराग का जल भरा हो और उसमें शील की सुगन्ध मिश्रित हो। ऐसी पात्रता जब उसमें आती है, तब वह भगवान के चरण पखारने का अधिकारी बनता है, पर इसका उल्टा एक दूसरा पक्ष भी है। जब भगवान राम ने केवट को आदेश दिया कि अच्छा भाई, तुम मेरे चरण धो लो और केवट जब भगवान के चरण धोने लगा, तो वह जल किस पात्र में लाया? उसके नाव में पानी उलीचने का एक कठौता पड़ा हुआ था, वह उसी में जल ले आया। किसी ने केवट से पूछा – "तुम्हें

पता भी है कि इन चरणों को धोने के लिए कैसा पात्र चाहिए? जिस पात्र में तुम प्रभु के चरण धो रहे हो, क्या वह सचमुच भगवान के चरण धोने के योग्य है?'' केवट ने कहा, ''जो लोग ऐसा मानते हैं कि पात्र होने के बाद ही प्रभु के चरण मिलेंगे, वे तो पात्र होकर पायें, परन्तु मेरा तो मानना यह है कि प्रभु के चरण जहाँ चले जायेंगे, वहीं पात्र हो जाएगा। वह स्वयं पात्र बनकर नहीं जाता, अपितु प्रभु ही पात्र बना देते हैं। इसलिए केवट ने भगवान से कहा – महाराज, मैं तो यही कहूँगा कि यदि आप पार जाना चाहते हैं, तो चरण धुलवाइए। पर उसके साथ उसने एक शर्त और जोड़ दी – आपको चरण तो धुलवाने ही होंगे और उन्हें भी मैं तभी धोऊँगा, जब आप अपने मुख से कहेंगे कि मेरे चरण धोओ –

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू।
मोहि पद पदुम पखारन कहहू ।। २/१००/८

केवट की भाषा बड़ी अभिमान-भरी लगती है, पर उसका अभिप्राय क्या है? जो पात्र या अधिकारी है, वह तो आपसे दावा कर सकता है कि आप चरण दीजिए, परन्तु जब आप स्वयं कृपापूर्वक देने आए हैं, तो व्यग्रता आप में है, मुझमें नहीं। ऐसी स्थिति में यदि आप सचमुच कृपा करने को व्यग्र हो रहे हैं, तो आप अपनी कृपा प्रगट कीजिए।

दोनों पक्ष अपने अपने स्थान पर ठीक हैं – पात्र बनकर प्रभु को प्राप्त करना एक पक्ष है और प्रभु को पाकर पात्र बन जाना दूसरा पक्ष है। जहाँ तक सुग्रीव के चरित्र का सन्दर्भ है, उसे यदि हम बहिरंग दृष्टि से देखें, तो उनमें कोई पात्रता नहीं दिखाई देती। पर सुग्रीव के सन्दर्भ में एक बड़ी अद्भुत-सी बात मिलेगी और इस पर लक्ष्मणजी के मन में भी बड़ा कुतूहल हुआ। उन्हें आश्चर्य हुआ कि प्रभु ने किस गुण पर रीझकर सुग्रीव को मित्र बनाया। उन्होंने एकान्त में प्रभु से पूछ भी लिया। तब प्रभु ने उनसे यही कहा – लक्ष्मण, तुम्हारा प्रश्न ठीक है, सुग्रीव के चरित्र में कमी तो दिखाई देती है, परन्तु यह बताओ कि सीताजी, शबरीजी और हनुमानजी के बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? लक्ष्मणजी तो तीनों के महान् भक्त, सेवक और प्रशंसक हैं। भगवान राघवेन्द्र ने कहा – ''लक्ष्मण, क्या इस बात पर तुम्हारा ध्यान गया कि रावण दण्डकारण्य से किशोरीजी का हरण करके लंका तक ले गया, परन्तु उन्होंने किसी को भी अपना चिन्ह नहीं दिया। और सुग्रीव ने प्रभु को अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा –

गगन पंथ देखी मैं जाता।
परबस परी बहुत बिलपाता ।।
राम राम हा राम पुकारी।
हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी ।।
मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा।
पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ।। ४/५/४-६

भगवान ने लक्ष्मण से कहा – कितने आश्चर्य की बात है कि सीताजी दण्डकारण्य से लंका तक विमान में बैठकर गयीं, पर चिन्ह देने के लिए उन्होंने सुग्रीव को ही अधिकारी माना। अब भक्ति देवी ने जिन्हें स्वयं प्रमाण-पत्र दे दिया, उसे मैं कैसे अस्वीकार करूँ? उन्होंने तो और किसी को पात्र नहीं माना। इसका सांकेतिक अर्थ क्या है, इस पर थोड़ा विचार कीजिए।

यहाँ पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी सूझ की बात कही है। किशोरीजी ने आकाश से अपने आभूषण गिराए थे, यह बड़ी प्रसिद्ध बात है और इस सन्दर्भ में बड़ी भावनापूर्ण बात कही जाती है कि प्रभु उन आभूषणों को नहीं पहचान सके। उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा – जरा तुम पहचानो कि क्या ये आभूषण सीताजी के ही हैं? लक्ष्मणजी ने अन्य आभूषणों को पहचानने में तो असमर्थता दिखाई, पर चरणों के नूपुरों को पहचान लिया। वे बोले – मैं केवल चरणों की ही वन्दना करता था, अत: मैंने केवल उनके नूपुरों को ही देखा है, अन्य आभूषणों को मैने कभी देखा नहीं। लक्ष्मणजी ने सीताजी के चरणों को छोड़कर कभी ऊपर नहीं देखा था। एक दृष्टि से देखें, तो इसमें एक उदात्त भावना दिखायी देती है। मर्यादा की दृष्टि से यह बात चाहे जितनी ऊँची प्रतीत हो, पर भावनात्मक दृष्टि से इसमें एक बड़ा प्रश्न है। गोस्वामीजी इस प्रसंग को एक भिन्न भावभूमि से प्रस्तुत करते हैं। वे यह नहीं कहते कि सीताजी ने सुग्रीव के सामने अपने आभूषण गिराए, बल्कि कहते हैं कि पर्वत शिखर पर अपने मंत्रियों के साथ बैठे हुए सुग्रीव को देख सीताजी ने अपना वस्त्र-खण्ड उसके सामने डाल दिये। यह एक भिन्न भावभूमि है और यह कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि सीताजी के प्रति लक्ष्मण का मातृभाव है। अब यह कैसी विचित्र बात है? क्या किसी बच्चे के लिए यह सम्भव है कि वह माता के केवल चरण देखे, मुख न देखे? यह कैसे सम्भव हो सकता है? बल्कि सच तो यह है कि बच्चे माँ के चरण कम और मुख ही अधिक देखा करते हैं। लक्ष्मणजी ने आँख उठाकर कभी सीताजी का मुख भी नहीं देखा – अब यदि यह कहकर उनके चरित्र को बहुत ऊँचा सिद्ध करना हो, तो धर्म के सन्दर्भ में वह चाहे जितना भी महत्वपूर्ण हो, पर भक्ति-भावना के सन्दर्भ में यह अनुकूल नहीं है। गोस्वामीजी का संकेत क्या है? उन्होंने दार्शनिक तत्त्व को भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने संकेत किया कि पुष्पवाटिका में श्रीराम ने जनकनन्दिनी सीताजी को देखा और सीताजी भी श्रीराम को देखकर नेत्र-मार्ग से उनको हृदय में ले आईं और पलकों के कपाट बन्द कर लिये –

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ।। १/२३२/७

उसके बाद सखियों ने श्री सीताजी से कहा कि जरा नेत्र खोलकर तो देखिए। इसका क्या अभिप्राय है? अब सीताजी

तो वस्तुतः श्रीराम को ही देख रही हैं। श्रीराम ही उनके हृदय में हैं। श्रीराम जब अपने भीतर दिखाई दे रहे हैं, ईश्वर यदि भीतर ही दिखाई दे रहे हैं, तो क्या उनको बाहर देखना जरूरी है? पर सखियाँ तो उनसे कहती हैं – जरा नेत्र खोलकर तो देखिए। सीताजी ने सखियों का अनुरोध स्वीकार कर लिया और उनके नेत्र खुले। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – महाराज, सीताजी तो भीतर भी उनको देख रही हैं और बाहर भी उन्हें ही देख रही हैं, इसमें अन्तर क्या है? वे बोले – नहीं भाई, एक अन्तर तो है। – क्या? बोले – जब भीतर देख रही थीं, तो केवल राम ही दिखाई दे रहे थे, पर जब आँख खुली, तो उन्होंने किसको देखा –

सकुचि सीय तब नयन उघारे।
सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे ।। १/२३४/३

श्रीराम और लक्ष्मण – दोनों को देखा। यहाँ गोस्वामीजी ने एक बहुत बड़ी बात कह दी। जगदम्बा सीताजी जब केवल अपने प्रभु को देखती हैं, तो यह उनके महानतम प्रेम का द्योतक है, पर नेत्र खोलने के बाद जब ईश्वर के साथ जीव पर भी उनकी वात्सल्यमयी दृष्टि पड़ती है, तब वे हमें भी देखती हैं। यदि वे केवल अपने प्रभु को ही देखती रहें, तो इससे उनके तथा प्रभु के प्रेम का परिचय तो मिलता है, परन्तु जीव के प्रति माँ का जो वात्सल्य-भाव है, वह कहाँ दिखता है?

किशोरीजी की दृष्टि एक साथ श्रीराम की ओर भी है और लक्ष्मण की ओर भी। उनकी दृष्टि में, एक साथ ही शृंगार भी है और वात्सल्य भी। इसका अभिप्राय यह है कि किशोरीजी श्रीराम को ही नहीं, लक्ष्मण को भी देखती हैं और यही स्वाभाविक भी है। कौन ऐसी माँ होगी, जो अपने पुत्र को स्नेह और वात्सल्य से न देखती हो? वैसे ही कौन ऐसा पुत्र होगा, जो यह निर्णय कर ले कि हम तो केवल माँ के चरणों को ही देखेंगे, माँ के मुख की ओर नहीं देखेंगे? गोस्वामीजी ने मर्यादा के उस रूप के स्थान पर भाव-भक्ति के पक्ष को महत्त्व देते हुए कहा – भाई, मैं यह नहीं कहूँगा कि उन्होंने आभूषण दिया। और आभूषण में वह संकेत भी नहीं है, जो वस्त्र में है। आभूषण और वस्त्र में क्या भेद है? शरीर पर आभूषण हों, तो मनुष्य को ऐश्वर्य का बोध होता है। आभूषण अधिक मूल्यवान और वस्त्र कम मूल्यवान लगते हैं, पर यदि विचार करके देखें तो महत्त्व किसका अधिक है, वस्त्र का या आभूषण का?

हनुमानजी और रावण के बीच जब वार्तालाप हुआ, तो रावण तो बोलने में बड़ा पटु था। आपने साहित्य में अलंकारों की चर्चा सुनी होगी। अलंकार का एक अर्थ आभूषण भी है। साहित्य के सन्दर्भ में जब कोई विद्वान् वक्ता बोलता है, तो उसके भाषण में विविध प्रकार के अलंकार होते हैं। रावण ने सोचा – यह बन्दर तो स्वयं को बड़ा वक्ता समझता है; मेरे इस पाण्डित्यपूर्ण भाषण में इसको अलंकार दिखाई पड़ा या नहीं? कई वक्ताओं के सामने यह समस्या रहती है। वे बेचारे बोलने के तत्काल बाद पूछते हैं – आज कैसा जमा? क्योंकि उनके मन में कहीं-न-कहीं शंका रहती है, वे दूसरों से प्रमाण-पत्र पाने को व्यग्र रहते हैं। रावण में भी यही दुर्बलता थी। हनुमानजी ने कहा – तुम्हारे भाषण में बहुत अलंकार थे। रावण बोला – तो फिर तुम मेरे पाण्डित्य से प्रभावित हुए या नहीं? हनुमानजी ने बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि अलंकार तो तुम्हारी भाषा में बहुत हैं, पर वस्त्र नहीं है। उन्होंने बहुत बड़ी बात कह दी। हनुमानजी कहते हैं – हे रावण, नारी के शरीर पर चाहे जितने भी आभूषण हों, उनसे वह ऐश्वर्य की स्वामिनी तो हो सकती है, परन्तु यदि उसके शरीर पर वस्त्र न हों, तो उसके शील की, लज्जा की रक्षा नही हो सकती –

बसन हीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी ।। ५/२३/४

वस्तुतः आभूषण की तुलना में वस्त्र का मूल्य कम भले ही हो, पर गुण की दृष्टि से तो वस्त्र का ही अधिक महत्त्व है। रावण ने पूछा – कौन-सा वस्त्र मेरे भाषण में नहीं था? हनुमानजी बोले – तुम्हारे भाषण में अलंकार तो अनेक आए, पर रामनाम का वस्त्र नहीं आया; इसलिए तुम्हारी भाषा तो नग्न है। किसी व्यक्ति के शरीर पर चाहे जितने भी आभूषण क्यों न हो, लेकिन यदि उसके शरीर पर वस्त्र न हों, यदि वह नग्न हो, तो उसे देखने पर अशिष्टता का, अश्लीलता का बोध होगा। हनुमानजी ने कहा – रावण, भाषा तुम्हारी चाहे जितनी भी अलंकारमयी हो, परन्तु मैं तो उसकी ओर दृष्टि नहीं डालना चाहता, क्योंकि तुमने रामनाम का प्रयोग नहीं किया। इसलिए श्रीसीताजी के सन्दर्भ में गोस्वामीजी ने वस्त्र को चुना, आभूषण को नहीं। इसका एक अभिप्राय और भी है।

वस्त्र क्या है? वस्त्र लज्जा ढकने का प्रतीक है। सीताजी के सामने मुख्य समस्या यह है कि आज वे उस व्यक्ति को खोज रही हैं, जो उनकी लज्जा को बचा सके। लंका से लौटने के बाद किसी ने सीताजी से पूछा – जब आपको रावण ले जा रहा था, तो आपने अपना वस्त्र-खण्ड बालि को क्यों नहीं दिया? वह तो रावण का विजेता है। आपको रावण से छुड़ा सकता था। पर आपने सुग्रीव को वस्त्र दिया इसका क्या तात्पर्य है? सीताजी ने कहा कि जो स्वयं ही दूसरों की लज्जा का हरण करनेवाला है, वह मेरी लज्जा क्या बचाएगा? जिसने अपने छोटे भाई की पत्नी को छीनकर अपनी पत्नी बनाना चाहा, वह व्यक्ति चाहे जितना भी शक्तिशाली हो, वह तो केवल लज्जा का अपहरण करनेवाला है, लज्जा बचानेवाला नहीं। सीताजी ने कहा – वस्तुतः मुझे लज्जा बचानेवाले की जरूरत नहीं थी, क्योंकि मैं जानती हूँ कि लज्जा बचाने की क्षमता तो एकमात्र प्रभु में ही है, अन्य किसी में नहीं। मुझे तो

किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो प्रभु तक मेरा सन्देश पहुँचा सके।

बालि समर्थ है और सुग्रीव असमर्थ। यहाँ पर समर्थ और असमर्थ में जो चुनाव किया गया, इसका प्रतीकात्मक तात्पर्य क्या है? किशोरीजी ने अपना सन्देश देने के लिए, चिह्न देने के लिए समर्थ बालि का चुनाव न करके असमर्थ सुग्रीव का चयन किया। लक्ष्मणजी ने प्रभु को याद दिलाया, उन्होंने पूछा – प्रभु, क्या आपको कभी जटायु की याद आती है? गिद्धराज का नाम सुनते ही प्रभु की आँखों में आँसू आ गए और उन्होंने व्याकुल होकर कहा – लक्ष्मण, गिद्धराज को खोकर तो मैंने दूसरी बार पिताजी को खो दिया –

सुनहु लषन खगपतिहि मिले बन,
मैं पितु मरन न जान्यौ।
सहि सक्यौ सो कठिन विधाता,
बड़ो पछु आजुहि भान्यौ ।। गीतावली, ३/१२

लक्ष्मणजी ने देखा कि प्रभु तो गिद्धराज के प्रेम में गद्‌गद हो रहे हैं, तो उन्होंने तत्काल अपना प्रश्न उनके सामने रख दिया – प्रभो, जब आपको गिद्धराज इतने प्रिय लगते हैं, तो सुग्रीव कैसे लगते हैं? व्यंग्य क्या था? एक व्यक्ति जो सीताजी का हरण होते देखकर सीताजी को बचाने के लिए रावण से लड़ा और अपना प्राण दे दिया; और दूसरा व्यक्ति पर्वत के शिखर पर चुपचाप बैठा देखता रहा, सीताजी का वस्त्र पाकर भी उसने सीतीजी को बचाने की चेष्टा नहीं की। क्या यह सुग्रीव की कायरता नहीं है?

क्या गिद्धराज जैसे महान् व्यक्ति से सुग्रीव की तुलना की जा सकती है? भगवान श्रीराम ने लक्ष्मणजी से दो बातें कहीं और ये दोनों बातें बड़ी सावधानी से समझने योग्य हैं। इसे यदि सावधानी से न सुनें, तो भ्रान्ति हो जाने की सम्भावना है। एक तो यह कहा कि गिद्धराज महान् प्रेमी थे। सीताजी को बचाने के लिए गिद्धराज ने रावण को चुनौती दी और उनके मुख से यह वाक्य निकला – पुत्री सीता, तुम चिन्ता मत करो; मैं इस राक्षस का नाश करूँगा –

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा।
करिहउँ जातुधान कर नासा ।। ३/२९/९

पर गिद्धराज की यह घोषणा सत्य नहीं हो पाई। वे रावण के विनाश में समर्थ नहीं हो सके। उनके शब्दों को सत्य करने हेतु भगवान राम को एक कार्य करना पड़ा। गिद्धराज ने जब देहत्याग किया, तो प्रभु ने उन्हें अपना विष्णु रूप दे दिया। क्यों? इसलिए कि इतने बड़े भक्त के मुख से निकली हुई वाणी – 'मैं रावण को मारूँगा' और इस शरीर में यदि वे नहीं कर सके, तो वह कार्य मेरे द्वारा पूर्ण होगा और तब विष्णु के रूप में ये मुझसे अभेद हैं, इस प्रकार रावण का वध विष्णु रूप में इनके द्वारा ही हो जाएगा और इनका संकल्प भी सत्य हो जाएगा। पर इसके दूसरे पक्ष पर विचार कीजिए कि अन्त में गिद्धराज का संकल्प पूरा क्यों नहीं हुआ? गिद्धराज ने सीताजी का पक्ष लिया, न्याय का पक्ष लिया, अन्यायी को चुनौती दी और पूरी शक्ति लगाकर उससे युद्ध किया। पर बहिरंग दृष्टि से जो बात दिखाई देती है, वह है रावण की विजय और गिद्धराज की पराजय।

इसका एक और पक्ष है। मैं आशा करता हूँ कि इस बात को आप उसी अर्थ में लेंगे, जिस अर्थ में कही जा रही है और वह यह है कि 'मैं रावण का विनाश करूँगा' यह घोषणा गिद्धराज के मुख से अनजाने ही की गयी थी। सात्त्विक मनोभूमि की दृष्टि से तो यह घोषणा बड़ी अच्छी है, लेकिन दूसरी दृष्टि से विचार करके देखिए कि गिद्धराज को भगवान श्रीराम के स्वरूप का ज्ञान है क्या? श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं। यहाँ पर दो पात्रों की याद आती है – एक तो गिद्धराज की, जो सीताजी से यह कहते है कि पुत्री तुम चिन्ता मत करो, मैं रावण को मारकर तुम्हें बचा लूँगा। इसका अभिप्राय है कि उनके अन्त:करण के भीतर कहीं सात्त्विक अहंकार शेष है। कैसा अहंकार? जिनको राम नहीं बचा पाए, उनको मै बचा लूँगा। यही तो अन्तर है न! जिस समय सीताजी ने मारीच की आवाज सुनी और लक्ष्मणजी से कहा – लक्ष्मण तुम तत्काल जाओ, तुम्हारे भाई पर बड़ा संकट आ पड़ा है –

जाहु बेगि संकट अति भ्राता।
लक्ष्मण बिहसि कहा सुनु माता ।।
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।
सपनेहुँ संकट परइ कि सोई ।। ३/२८/३-४

लक्ष्मणजी तत्काल नहीं दौड़े, बल्कि वे तो उलटकर खूब हँसे और बोले – "यह आप क्या कर रही हैं? अरे! जिनके भौंहों के इशारे से सृष्टि और प्रलय होता है, उन पर संकट? माँ, मुझे तो आपकी बात सुनकर बड़ी हँसी आ रही है। मैंने तो यही सुना था कि जब जीव संकट में पड़े, तब वह भगवान को पुकारे; पर पहली बार मैं सुन रहा हूँ कि भगवान संकट में पड़े हैं और जीव को पुकार रहे हैं। ऐसी बात तो पहले सुनने में कभी नहीं आयी।" सीताजी की बातों से लक्ष्मणजी प्रभावित नहीं होते। वे निरन्तर भगवान राम की सेवा करते हुए भी इस बात को एक क्षण के लिए भी विस्मृत नही करते कि राम साक्षात् पूर्णब्रह्म है और जो कार्य हमसे ले रहे है, यह उनकी कृपा है, आवश्यकता नही। गिद्धराज के मुँह से निकला हुआ वाक्य उनके सात्त्विक अहंकार को उजागर करता है। किसी महापुरुष के सन्दर्भ मे मैने पढ़ा था कि जब उन्होंने एक मन्दिर को टूटा हुआ देखा, तो उनके मन मे एक बात आयी कि मै इस मन्दिर का उद्धार करूँगा। तुरन्त उन्हे एक वाणी सुनायी पड़ी – "तुम जब उद्धार करने की बात कहते

हो, तो इसका अर्थ तो यही समझ में आता है कि मैं स्वयं अपना उद्धार करने में समर्थ नहीं हूँ। तुम सेवा अपने जीवन को धन्य करने के लिए करते हो।" इसका अभिप्राय यह है कि हमें स्वयं को इस सात्त्विक अहंकार से भी मुक्त करना होगा कि यह कार्य मेरी क्षमता और शक्ति का परिणाम है। इसे हम ठीक से समझ लें। गिद्धराज की पराजय क्यों हुई? बड़ा सूक्ष्म संकेत है। कैसी उल्टी बात हो गयी। यहाँ ईश्वर का संकल्प और रावण का संकल्प दोनों एक हो गए। भगवान राम भी चाहते हैं कि सीताजी का हरण हो, ताकि रावण का विनाश हो और रावण भी चाहता है कि सीता का हरण हो। गिद्धराज जो कार्य करते हैं, वह प्रभु की महानतम सेवा होते हुए भी इसमें उनकी पराजय हुई। इसका अर्थ यह है कि जब हम यह मानने की भूल कर बैठेंगे कि जो कार्य ईश्वर के द्वारा नहीं हो सकता, उसे मैं अपनी शक्ति और क्षमता के द्वारा कर सकता हूँ, तो इसका परिणाम होगा कि हमें पराजित होना पड़ेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी भूमिका को समाप्त कर दें। हमें यह मानकर करना है कि प्रभु ही हमसे यंत्र के रूप में करा रहे है और इस यंत्र के द्वारा चाहे वे जो करा लें।

गिद्धराज पराजित तो हुए, पर उस पराजय में भी उन्हे धन्यता की अनुभूति हुई। जब प्रभु ने पूछा – आपको पंख कटने के बाद कैसा लगा? तो गिद्धराज बोले – प्रभो, जब मेरे पंख थे तब मैंने सम्पाती के साथ ऊपर सूर्य तक पहुँचने की चेष्टा की, लेकिन सूर्य का ताप इतना प्रबल था कि मुझे लौट आना पड़ा, मेरे पंख सूर्य तक नहीं पहुँच सके पर देखिए, कैसी उल्टी बात है, जब पंख कट गए, तब मै वैकुण्ठ तक पहुँच रहा हूँ। इसका अर्थ है कि जब पुरुषार्थ का पक्ष कट गया, तब कृपा का पक्ष शुरू हुआ। अब मैं जो वैकुण्ठ जा रहा हूँ, यह पुरुषार्थ के पक्ष से नहीं, कृपा के पक्ष से जा रहा हूँ। यहाँ दोनों का सामंजस्य है। भगवान बोले – लक्ष्मण, सीताजी ने जब सुग्रीव का चुनाव किया, तो यह मानकर किया कि प्रभु तक सन्देश पहुँचाने के लिए यही उपयुक्त है, क्योंकि सीताजी को लज्जा बचानेवाले किसी व्यक्ति की जरूरत नहीं है। वे भलीभाँति जानती हैं कि मेरी लज्जा बचानेवाले एकमात्र प्रभु ही हैं। उन्होने तो सुग्रीव को केवल सन्देशवाहक के रूप में चुना। यह तत्त्व 'मानस' में उस रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, जैसा कि वाल्मीकि रामायण में आता है। वहाँ तो हनुमान ने सीताजी से यह प्रस्ताव किया – आप मेरी पीठ पर बैठिए, मैं आपको प्रभु के पास पहुँचा देता हूँ, पर हनुमानजी के प्रस्ताव को सीताजी ने स्वीकार नहीं किया। वे बोलीं – नहीं, नही, प्रभु जब स्वयं आयेंगे, तभी चलूँगी। वैसे तो बड़ी विचित्र-सी बात है। हनुमानजी इस कार्य को बड़ी सहजता से कर सकते हैं, परन्तु सीताजी हनुमानजी के इस अनुरोध को स्वीकार करने की मनःस्थिति में नहीं हैं। अतः हनुमानजी लौटकर प्रभु से कहते हैं – आप स्वयं चलिए –

निमिष निमिष करुनानिधि
जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय ...... ।। ५/३१

कहने का अभिप्राय यह है – "किशोरीजी को किसी सेवक द्वारा बुलवा लेना! – नहीं, नहीं, आप स्वयं चलिए, आप में सामर्थ्य है। आप तो यहाँ से बैठे-बैठे ही रावण का वध कर सकते हैं; परन्तु सीताजी की विपत्ति को तो प्रभो, आप स्वयं चलकर ही दूर कर सकते हैं।"

सीतीजी के वस्त्र को पाकर यदि सुग्रीव ने भी रावण से युद्ध किया होता, तो उसकी भी वही दशा हुई होती, जो जटायुजी की हुई। सुग्रीव तो बड़े बुद्धिमान राजनीतिज्ञ लगते हैं। क्यों? इसलिए कि उन्होंने निर्णय किया कि पहले इस वस्त्र को भगवान राम के पास पहुँचाएँ, फिर सेना संगठित करें और तब सीताजी को लंका से छुड़ाकर लायें। गिद्धराज तो महान् प्रेमी थे और सुग्रीव बड़े राजनीतिज्ञ। इसलिए भगवान राम बोले – लक्ष्मण, मुझे तो लगता है कि सुग्रीव का पक्ष बड़ा तात्त्विक है। सुग्रीव के पक्ष का तात्त्विक अर्थ यह है कि सीताजी की रक्षा करने के लिए किसी व्यक्ति की आवश्यकता नही है, यह तो केवल प्रभु ही कर सकते हैं, यह काम उनका है, वे ही सामर्थ्यवान है। हमारा काम केवल उन तक सन्देश पहुँचाना मात्र है। व्यक्ति असमर्थ है, वह तो माँ जानकी के उस वस्त्र-खण्ड को लेकर प्रभु के पास जा रहा है। सुग्रीव के सामने वस्त्र-खण्ड गिराने का जनकनन्दिनी का आशय यह था – प्रभो, मेरी लज्जा का अपहरण हो रहा है, इसका संकेत-चिह्न मैं सुग्रीव के पास छोड़कर जा रही हूँ। यह तो असमर्थ है, पर इससे आपको मेरा सन्देश मिल जाएगा। यह संकेत सुग्रीव के सन्दर्भ में भी है और हनुमानजी के सन्दर्भ में भी है। अन्त में जब सीताजी के पास जाने के लिए हनुमानजी का चुनाव किया गया, तो उनमें ऐसी कौन-सी योग्यता देखी गयी? वैसे तो लगता है कि यह बिल्कुल उल्टा चुनाव है, पर सूत्र क्या है? हनुमानजी का चुनाव होना चाहिए या किसी और का? हनुमानजी हैं बाल-ब्रह्मचारी और भगवान राम अपने विरह का सन्देश ब्रह्मचारी के हाथों भेज रहे हैं। अब ब्रह्मचारी भला विरह को क्या जानेगा? आपने नल-दमयन्ती की वह कथा पढ़ी होगी, जिसमें दमयन्ती से वियोग होने के बाद नल रोते हुए भगवान राम को खोजने लगे। क्यों? नल ने कहा – पत्नी-विरह का दुःख तो केवल राम ही जानते हैं –

किं करोमि क्व गच्छामि रामो नास्ति महीतले।
पत्नीविरह दुखं रामो जानाति केवलः।।

उनका तात्पर्य यह है कि यदि राम मिल जाते तो मैं सुनाता कि दमयन्ती के वियोग में मुझे कितना दुःख हो रहा है! राम

ही उसे सुनकर प्रभावित होते। ये नल बेचारे तो राम को ढूढ़ रहे थे, पर राम ने खोजा भी तो बाल-ब्रह्मचारी को खोजा और उनसे कहा कि जाकर सीताजी के समक्ष मेरे विरह का वर्णन करना। श्रीराम ने हनुमानजी को दो काम दिए – मेरे बल का वर्णन करना और मेरे विरह का वर्णन करना –

कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ।। ४/२३/११

इस कार्य के लिए हनुमानजी ही क्यों चुने गए? प्रभु का तात्पर्य यह था – हनुमान, तुम्हीं मेरे बल का वर्णन करने के अधिकारी हो। क्योंकि सारे बन्दर तो अपने ही बल का वर्णन करते हैं, पर केवल हनुमानजी ऐसे हैं कि अपने बल का वर्णन तो क्या उन्हें तो अपने बल की याद तक नहीं रहती। जो अपने बल का वर्णन करते रहते हैं, वे प्रभु के बल का वर्णन क्या करेंगे? जिनको स्वयं में बल का अभावबोध होगा, वही ईश्वर के बल को समझ सकेगा। प्रभु हनुमानजी से बोले – "तुम्हीं मेरे बल का वर्णन कर सकते हो, अत: जाओ और सीताजी को मेरे बल का वर्णन सुनाओ। जो बेचारे बिरही होते हैं, वे तो हमेशा अपने ही संयोग की चर्चा करते रहते हैं, वे दूसरों के विरह-दु:ख को क्या समझेंगे? ऐसी स्थिति में बाल-ब्रह्मचारी होने के नाते तुममें कहीं विरह नहीं है, अत: तुम्हीं इस विरह का समाधान कर सकते हो।" मूल सूत्र यही है।

भक्ति का मूल आधार यह है कि व्यक्ति अपनी असमर्थता का बोध कर रहा है या नहीं? यदि असमर्थता का भान हो रहा है, तो धर्म और मर्यादा का पालन कीजिए, वही कल्याणकारी पक्ष है। भक्ति का उदय कब होगा? सीताजी भक्ति हैं और उन्होंने समर्थ के स्थान पर असमर्थ का चुनाव किया। इसका अभिप्राय यह था कि हमारी सबसे बड़ी पात्रता यह है कि हम अपनी असमर्थता का अनुभव करें, उसे स्वीकार करें और वही करें, जो सुग्रीव ने किया। सुग्रीव ने सीताजी के उस वस्त्र-खण्ड को अपने पास रख लिया और अन्त में वह क्षण आता है, जब साक्षात् श्रीराम आए और तब सुग्रीव ने उसे प्रभु को दे दिया। उसे देखकर भगवान श्रीराम ने एक बार भी यह नहीं कहा कि तुम कितने कायर हो, तुमने सीताजी का हरण होते हुए देखा, फिर भी बचाने की चेष्टा नहीं की। प्रभु का तात्पर्य था कि यह भान होना चाहिए कि इस घटना में हम केवल निमित्त मात्र हैं और समस्या का समाधान तो केवल प्रभु के द्वारा ही सम्भव है। इस धारणा के बिना व्यक्ति के अन्त:करण में भक्ति-भावना का उदय नहीं होगा।

अत: ध्यान रहे कि भक्ति-भावना में पराजय का बड़ा महत्त्व है। इसका एक सांकेतिक सूत्र आपको रामायण में मिलेगा – लंका के युद्ध में जितने भी बड़े-से-बड़े योद्धा हैं, एक-न-एक बार सभी हार जाते हैं। बेचारे सुग्रीव की तो बात ही क्या, वे तो हमेशा हारते ही रहते हैं। पर हनुमानजी हारे या नहीं? लक्ष्मणजी हारे या नहीं? ये सभी, बड़े-से-बड़े पात्र भी हार जाते हैं। हनुमानजी का कुम्भकर्ण से युद्ध हुआ, कुम्भकर्ण ने हनुमानजी को मूर्छित कर दिया।

इनमें बड़े गहरे संकेत हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सफलता और विजय से व्यक्ति को यह भ्रम हो जाने की सम्भावना है कि वह सारी समस्याओं का समाधान करने और सारी बुराइयों पर विजय प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ है; उसे किसी अन्य सामर्थ्यशाली व्यक्ति या ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यहाँ पर जो सांकेतिक सूत्र दिया गया कि बिना पराजय के इस भ्रम का दूर होना सम्भव नहीं है। इस भ्रम के निवारण के लिए, विशेष रूप से भक्ति के सन्दर्भ में जीवन मे केवल जय का ही नहीं, पराजय का भी, असमर्थता का भी बोध होना चाहिए; क्योंकि व्यक्ति जब पराजय का सामना करता है, तब उसे लगता है कि मुझे अपनी असमर्थता के कारण पराजित होना पड़ता है। तब उसे ऐसी प्रेरणा प्राप्त होती है कि हम अपने असामर्थ्य को ऐसे समर्थ से जोड़ दें, जिनके साथ जुड़ने से जीवन में आनेवाले अपनी असमर्थता के दुष्परिणाम हमें न भोगने पड़ें। ऐसा बोध हनुमानजी को होता है। वे कुम्भकर्ण से हार गए। हनुमानजी को यह दु:ख नहीं हुआ कि वे कुम्भकर्ण से हार गए। उन्होंने भी यही कहा – प्रभो, इसका अर्थ तो यह हुआ कि चाहे कोई कितना भी महान् बली क्यों न हो जाय, पर वह दावा नहीं कर सकता कि वह अहंकार रूप कुम्भकर्ण को पराजित कर ही देगा। वह यह दावा नहीं कर सकता कि हमारे जीवन में एक क्षण के लिए भी अहंकार का एक क्षणिक आवेश भी नहीं आएगा। लक्ष्मणजी को भी यही अनुभूति होती है। महानतम वैराग्यवान होते हुए भी मेघनाद के रूप में काम से पराजित होने का संकेत किया गया। भक्त के पास इसे देखने की वह दृष्टि है कि हम जय या पराजय को किस अर्थ में लेते हैं।

विजयी होने के बाद अभिमानी हो जानेवाले अगणित व्यक्ति हैं और पराजित हो जाने के बाद निराश हो जानेवाले व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है, परन्तु जय को भगवान का प्रसाद और पराजय को प्रभु का निमंत्रण समझना चाहिए। आपका मित्र जब आपके पास कुछ भेजता है, तो आप प्रसन्न होते हैं, परन्तु मित्र जब लिखता है – आप आइए, आपसे मिलना चाहता हूँ। तब आप और अधिक प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार भगवान जब जीव के पास जय भेजते है तो उन्हे धन्यवाद देना चाहिए – प्रभो, आपने जय का उपहार भेजा। और जब कभी पराजय का अनुभव हो, तो समझ लेना चाहिए कि अब ईश्वर बुला रहे है – भेंट तो मैंने अनेको बार भेजी, एक बार जरा तुम भी तो मेरे पास आ जाओ।

❖ (अगले अंक में समाप्य) ❖

बुद्धकालीन भारत

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी का प्रस्तुत व्याख्यान अब तक हिन्दी में अप्रकाशित था। यह व्याख्यान २ फरवरी १९०० ई. के दिन कैलीफोर्निया (अमेरिका) के पॅसाडेना नगर के शेक्सपियर क्लब में दिया गया था। इसका अनुलिखन सर्वप्रथम १९६३ ई. में 'स्वामी विवेकानन्द शताब्दी स्मारण ग्रन्थ' में मुद्रित होकर बाद में स्वामीजी की आंग्ल ग्रन्थावली के तीसरे खण्ड में संकलित हुआ, वही से हम इसका अनुवाद प्रस्तुत करते है – सं.।

आज रात हमारे व्याख्यान का विषय है – बुद्धकालीन भारत। सम्भवत: आप सभी ने एडविन एर्नाल्ड द्वारा रचित बुद्ध के जीवन पर रचित काव्य पढ़ा होगा और चूँकि अँग्रजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन भाषा में बहुत-सा बौद्ध साहित्य उपलब्ध है, आप में से किसी-किसी ने इस विषय का और भी विद्वत्ता-पूर्ण अभिरुचि के साथ उसका अनुशीलन किया होगा। बौद्ध धर्म अपने आप में सर्वाधिक रोचक विषयों में से एक है, क्योंकि किसी विश्वधर्म का यह सर्वप्रथम ऐतिहासिक प्राकट्य है। बौद्ध धर्म के उदय के पूर्व भारत में तथा अन्यत्र और भी महान् धर्म हुए हैं, परन्तु अधिकांशत: वे अपनी महान् जातियों तक ही सीमित रह गये। प्राचीन हिन्दू, प्राचीन यहूदी या प्राचीन पारसी – इसमें से प्रत्येक के पास एक महान् धर्म था, परन्तु ये धर्म काफी कुछ जातिगत थे। बौद्ध धर्म के साथ ही धर्म के क्षेत्र में एक विशेष प्रक्रिया प्रारम्भ होती देखने को मिलती है और वह है साहसपूर्वक जगत् को विजय करने निकलने की। इसने जो सिद्धान्त एवं सत्य तत्त्व दिये तथा इसे जो सन्देश देना था, इसके बावजूद हम यहाँ स्वयं को एक विश्वव्यापी प्रचण्ड क्रान्ति के सम्मुखीन पाते हैं। बुद्ध के आविर्भाव के कुछ शताब्दियों के भीतर ही उनके नंगे पाँव, मुण्डित-मस्तक प्रचारक तत्कालीन पूरे सभ्य जगत् में फैल चुके थे; बल्कि वे उसके और भी आगे एक ओर लैपलैण्ड से दूसरी ओर फिलीपीन द्वीपो तक जा पहुँचे थे। बुद्ध के जन्म के बाद की कुछ शताब्दियों के भीतर ही वे दूर-दूर तक फैल गये थे और भारत मे भी एक समय बौद्ध धर्म ने भारत की करीब दो-तिहाई जनसंख्या को हजम कर लिया था।

पूरा भारत कभी बौद्ध नहीं हुआ। वह (हिन्दू) इसके बाहर रहा। यहाँ बौद्ध धर्म का वही हाल हुआ, जो यहूदियों के बीच ईसाई धर्म का हुआ था; अधिकांश यहूदी इससे अलग रहे। अत: प्राचीन भारतीय धर्म जीवित रहा। परन्तु तुलना की यही इति हो जाती है। ईसाई धर्म यद्यपि पूरे यहूदी धर्म को अपना अनुयाई नहीं बना सका, परन्तु उसने देश को ही ले लिया। जहाँ-जहाँ यहूदियों का पुराना धर्म था, अल्प अवधि में ही वह ईसाई धर्म द्वारा जीत लिया गया, उनका पुराना धर्म बिखर गया और इस कारण यहूदियों का धर्म अब विश्व के विभिन्न भागों में निर्वासित जीवन बिता रहा है, परन्तु भारत में काल की लम्बी अवधि के दौरान यह विराट् शिशु अपनी जन्मदात्री माँ के द्वारा पचा लिया गया और आज बुद्ध का नाम तक पूरे भारत से लुप्त हो चुका है। नब्बे प्रतिशत भारतवासियों की अपेक्षा आप लोग बौद्ध धर्म के बारे में कहीं अधिक जानते हैं। बहुत हुआ तो भारतवासी केवल उनके नाम से परिचय दिखाते हुए कहेंगे – "ओह, वे महान् पुरुष थे, ईश्वर के एक महान् अवतार थे" – बस इतना ही। श्रीलंका बुद्ध का अनुगत है और हिमालय पदेश के कुछ हिस्सों में अब भी कुछ बौद्ध हैं। बस इसके अतिरिक्त और नहीं हैं। परन्तु यह बाकी सम्पूर्ण एशिया में फैला हुआ था।

अन्य किसी भी धर्म की तुलना में इसके अनुयाइयों की संख्या अब भी सर्वाधिक है और इसने परोक्ष रूप से सभी धर्मों के उपदेशों को परिमार्जित किया है। एशिया माइनर में बौद्ध धर्म काफी परिमाण मे पहुँचा। एक समय वहाँ निरन्तर संघर्ष चलता रहता था कि वहाँ बौद्ध धर्म का प्राबल्य हो या परवर्ती ईसाई सम्प्रदायों का। आरम्भिक ईसाई धर्म के (ग्नॉस्टिक) तथा अन्य सम्प्रदाय स्वरूप की दृष्टि से काफी कुछ बौद्ध थे और (मिस्र के) सिकन्दरिया नामक उस अद्भुत नगर में यह सब कुछ समन्वित हो गया और रोमन साम्राज्य की छत्रछाया में हुए इस सम्मिलन से ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म के मतों व सिद्धान्तों की अपेक्षा उसका राजनीतिक तथा सामाजिक पक्ष कहीं अधिक रोचक है और धर्म को प्रचण्ड विश्वजयी शक्ति के प्रथम प्राकट्य के रूप में भी यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत व्याख्यान में मैं मुख्यत: बौद्ध धर्म के भारत पर पड़े प्रभाव में रुचि लूँगा और बौद्ध धर्म तथा उसके उदय को थोड़ा समझने के लिए, हमें उस महापुरुष के जन्म के समय के भारत के विषय में कुछ बातें जाननी होंगी।

उन दिनों भारत में पहले से ही एक महान् धर्म विद्यमान था, जिसके पास वेद नामक एक सुव्यवस्थित शास्त्र भी था। और यह वेद एक पुस्तक मात्र नहीं, अपितु साहित्य का एक विशाल संग्रह था, ठीक वैसा ही जैसा कि आप बाइबिल के पुराने व्यवस्थान में देखते हैं। आज का बाइबिल विभिन्न युगों के साहित्य का एक संग्रह है, जिसके लेखक आदि भी विभिन्न हैं। यह एक संग्रह है। वेद भी विराट् संग्रह का नाम है। मुझे पता नहीं कि उनमें से सब मिले हैं या नहीं – किसी को भी उनमें से सारे पाठ नहीं मिल सके हैं। यहाँ तक कि भारत में भी किसी ने उन समस्त ग्रन्थों को नहीं देखा है। यदि उसकी सारी पुस्तकें मिल जातीं, तो यह कमरा भर जाता। यह ग्रन्थों

का एक बड़ा ढेर है, जो ईश्वर से धर्मग्रन्थों के रूप में प्राप्त होकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है; और भारत में इस धर्मग्रन्थ के बारे में धारणा अत्यन्त रूढ़ हो गयी। आप लोग ग्रन्थ-पूजा विषयक अपनी कट्टरता के बारे में शिकायत करते हैं। यदि आप इस विषय में हिन्दुओं के भाव जान लें, तो आपकी न जाने क्या हालत होगी! हिन्दू सोचते हैं कि वेद ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान है। ईश्वर ने वेदों में तथा उसी के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है और पूरे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व इसलिये है, क्योंकि वह वेदों में विद्यमान है। वेदों में गो शब्द विद्यमान होने के कारण ही बाहर गाय का अस्तित्व है। मनुष्य शब्द वेदों में होने के कारण ही उसका बाहर अस्तित्व है।

यहाँ पर आप उस सिद्धान्त का उन्मेष देख पाते हैं, जिसे बाद में ईसाईयों ने विकसित करके इन शब्दों में व्यक्त किया – "प्रारम्भ में केवल शब्द था और वह शब्द ईश्वर के साथ था।" यह भारत का एक पुराना, प्राचीन सिद्धान्त है। इसी पर धर्म-ग्रन्थों की पूरी धारणा आधारित है। और ध्यान रहे, हर शब्द ईश्वर की शक्ति है और शब्द केवल जागतिक स्तर पर उसकी बाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। अत: यह सम्पूर्ण अभिव्यक्ति केवल भौतिक स्तर पर हुई अभिव्यक्ति है; वेद शब्द है और संस्कृत ईश्वर की भाषा है। ईश्वर एक बार बोले। वे संस्कृत में बोले और वह देवभाषा है। उन (हिन्दुओं) की दृष्टि में अन्य सभी भाषाएँ पशुओं की आवाजें मात्र हैं और इस कारण संस्कृत न बोलनेवाले प्रत्येक राष्ट्र को वे म्लेच्छ कहते हैं, जो यूनानियों के (barbarians) 'बर्बर' शब्द का समानार्थक है। वे लोग बोलते नहीं, आवाजें मात्र करते हैं और संस्कृत देवभाषा है।

वेदों को किसी ने लिखा नहीं। वे चिरकाल से ईश्वर के पास विद्यमान थे। ईश्वर अनन्त हैं और वैसे ही ज्ञान भी अनन्त है और इस ज्ञान के द्वारा जगत् की सृष्टि होती है। उन (हिन्दुओं) के नीतिशास्त्र की धारणा (अर्थात् कोई वस्तु अच्छी) इसलिये है कि वेद में वैसा लिखा हुआ है। सब कुछ उस ग्रन्थ से बँधा हुआ है – कुछ भी उससे परे नहीं जा सकता, क्योंकि आप ईश्वरीय ज्ञान के परे नहीं जा सकते। यह है भारतीय कट्टरता।

वेदों के परवर्ती भाग में आपको सर्वोच्च आध्यात्मिकता देखने को मिलती है। प्रारम्भिक अंशों में उसके अशोधित भाग हैं। आप वेदों में से एक श्लोक उद्धृत करके कहते हैं – "यह अच्छा नहीं है।" – "क्यों?" – "उसमें निश्चित रूप से एक बुरा आदेश है" – वैसा ही जैसा कि पुराने व्यवस्थान में देखने को मिलता है। सभी प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी अनेक बातें हैं, विचित्र धारणाएँ हैं, जिन्हें हम आज के युग में पसन्द नहीं करेंगे। आप कहते हैं – "यह सिद्धान्त बिल्कुल भी ठीक नही है, क्योंकि यह हमारे नीतिशास्त्र को धक्का पहुँचाता है।" आपको अपने विचार मिले कैसे? क्या अपने स्वयं के चिन्तन से? चलो निकलो। यदि वह ईश्वर प्रदत्त है, तो फिर आपको प्रश्न पूछने का क्या अधिकार है? जब वेद कहते हैं, "ऐसा मत करो, यह अनैतिक है" आदि आदि, तो फिर आपको प्रश्न करने का जरा भी अधिकार नहीं और यही कठिनाई है। यदि आप एक हिन्दू से कहें, "परन्तु हमारा बाइबिल तो ऐसा नहीं कहता" तो वह उत्तर देगा, "ओह, आपका बाइबिल! वह तो इतिहास की उपज है। वेदों के अतिरिक्त और कौन-सा बाइबिल हो सकता है? दूसरा और कौन-सा ग्रन्थ हो सकता है? सम्पूर्ण ज्ञान ईश्वर में है। क्या आप सोचते हैं कि वे दो या अधिक बाइबिलों के द्वारा शिक्षा देते हैं? उनका ज्ञान वेदों के रूप में नि:सृत हुआ है। तो फिर क्या आपका तात्पर्य है कि उन्होंने एक गलती की और बाद मे वे उससे भी अच्छा करना चाहते थे? इसी कारण उन्होंने एक अन्य राष्ट्र को एक दूसरा बाइबिल सिखाया? वेदों जैसा प्राचीन आपको अन्य कोई ग्रन्थ नहीं मिलेगा। बाकी सब कुछ – उसके बाद नकल कर लिया गया।" वे आपकी बातें नहीं सुनेंगे और ईसाई लोग जब वहाँ बाइबिल लेकर आते हैं, तो वे कहते हैं "यह जाली है। ईश्वर केवल एक बार ही बोलते हैं, क्योंकि वे कभी भूल नहीं करते।"

अब इस पर विचार कीजिए। वह रूढिवादिता भयानक है। और यदि आप एक हिन्दू से कहें कि उसे अपने समाज में सुधार लाना है, यह करना है, वह करना है, तो वह कहता है – "क्या यह ग्रन्थों में लिखा है? यदि नहीं, तो फिर मुझे परिवर्तन की कोई जरूरत नहीं। थोड़ा ठहरिए। पाँच सो वर्षों के भीतर आपको पता लग जायेगा कि यह ठीक है।" यदि आप उससे कहें – "तुम्हारी यह सामाजिक संस्था ठीक नही" तो वह पूछता है, "आपको कैसे ज्ञात हुआ?" उसके बाद वह कहता है – "हमारी सामाजिक संस्थाएँ बल्कि बेहतर है। पाँच (सौ) वर्ष ठहरिए, आपकी संस्थाएँ मर जायेंगी। 'सर्वोत्तम की अतिजीविता' ही तो परीक्षा का मापदण्ड है। आप लोग जीवित तो है, पर दुनिया में एक भी ऐसा समुदाय नही है, जो पाँच सौ वर्ष तक एक साथ रहता हो। इधर देखो! हम सदा से विद्यमान रहे हैं।" ऐसा ही कहेगे वे। भयंकर कट्टरता! और ईश्वर को धन्यवाद कि मैं उस समुद्र को लाँघ चुका हूँ

यह थी भारत की कट्टरता। वहाँ और क्या था? सब कुछ बँटा हुआ था, आज ही की तरह परन्तु और भी अधिक कठोर रूप से पूरा समाज जातियों में बँटा हुआ था। एक और चीज सीखने की है। जातियों का निर्माण होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जैसा कि (इस समय) यहाँ पश्चिम में दिख रहा है और मैं स्वयं! मै एक जातित्यागी हूँ। मैंने सब कुछ तोड़ डाला है। व्यक्तिगत रूप से मैं जातिप्रथा में विश्वासी नही हूँ। (पर) इसमें कुछ बहुत अच्छी चीजें हैं। परन्तु मेरे लिए ... भगवान बचाएं! मुझे किसी जाति की आवश्यकता नहीं।

जाति से मेरा जो तात्पर्य है, वह आप समझ गये होंगे और आप सभी बड़ी तेजी से उसके निर्माण करने के प्रयास में लगे हुये हैं। हिन्दू के लिए यह एक आनुवांशिक व्यवसाय है। प्राचीन काल में हिन्दुओं ने कहा कि जीवन को और भी सहज तथा आसान बनाना चाहिए। अब कौन-सी चीज सब कुछ को सजीव बनाती है। प्रतिस्पर्धा। आनुवांशिक व्यवसाय इसका नाश कर देता है। आप एक बढ़ई हैं? तो ठीक है, आपका पुत्र केवल बढ़ई हो सकता है। आप क्या हैं? लोहार? लौहकर्म एक जाति बन जाता है और आपके लड़के लोहार बन जायेंगे। हम दूसरों को इस व्यवसाय में नहीं आने देते, अतः आप चैनपूर्वक उसमें बने रह सकते हैं। आप एक सैनिक हैं, योद्धा हैं? एक जाति बना लीजिए। आप एक पुरोहित हैं? एक जाति बना लीजिए। पुरोहिती आनुवांशिक है और इसी प्रकार अन्य जातियाँ होंगी। कठोर, अत्यन्त सशक्त!

इसका एक महान् पक्ष है और वह यह है कि यह वस्तुतः प्रतिस्पर्धा को दूर कर देता है, यही वह चीज है – जातिप्रथा, जिसने (हमारे) राष्ट्र को जीवित रखा है, जबकि दूसरे राष्ट्र नष्ट हो गये। पर (इसमें) एक बड़ा दोष है कि यह व्यक्तिवाद का बाधक है। मेरा जन्म एक बढ़ई के रूप में हुआ है, अतः मुझे बढ़ई ही बनना पड़ेगा। पर मान लो कि यह मुझे पसन्द नहीं।

यह सब किताबों में है और यह बुद्ध के जन्म के पहले की बात है। मैं तुम्हें बुद्ध के पूर्व में भारत के बारे में बता रहा हूँ और आज तुम लोग समाजवाद लाने का प्रयास कर रहे हो! अच्छी चीजें आयेंगी, परन्तु लम्बी अवधि में तुम जाति के एक नाशक ही सिद्ध होओगे। स्वाधीनता ही बोधवाक्य है। स्वाधीन बनो! एक मुक्त शरीर, एक मुक्त मन और एक मुक्त आत्मा! मैंने अपने पूरे जीवन में यही महसूस किया है। मैं बन्धन में पड़कर भला करने की अपेक्षा स्वाधीन भाव से बुरा करना कहीं अधिक पसन्द करूँगा।

अस्तु। आज पश्चिम में जिन चीजों के लिये शोर मचाया जा रहा है, वहाँ उन्हें युगों पूर्व किया जा चुका है। देश का राष्ट्रीयकरण हुआ था ... हजारों की संख्या में यह सब हुआ था। इस कठोर जातिवाद की निन्दा की जाती है। भारतीय जनता चरम समाजवादी है, पर उसके परे काफी 'व्यक्तिवाद' भी है। इन सूक्ष्म विधियों का निर्धारण करने के बाद वे लोग परम व्यक्तिवादी हैं। उन्होंने निश्चित कर दिया है कि तुम कैसे खाओगे, पीयोगो, सोओगे और मरोगे। वहाँ सब कुछ नियमित है; प्रातःकाल से लेकर सोने तक तुम आचारों और नियमों का पालन करते हो। नियम, नियम। तुम्हें आश्चर्य होता होगा कि क्या किसी राष्ट्र को इस प्रकार नियमों में (जीवित) रहना चाहिए? नियम ही मृत्यु है। किसी देश में जितने ही नियम होंगे, उसके लिये वे उतने ही बुरे होंगे। (पर व्यक्ति होने के लिए) हम पहाड़ों में चले जाते हैं जहाँ न नियम हैं और न शासन। तुम जितने ही नियम बनाओगे, जितने ही पुलिस और समाजवाद लाओगे, उतने ही अपराधी बढ़ेंगे।

इस प्रकार नियमों का चरण नियंत्रण है। ज्योंही एक शिशु का जन्म होता है, वह जानता है कि वह एक गुलाम के रूप में जन्मा है; सर्वप्रथम तो अपनी जाति का दास है; तदुपरान्त एक राष्ट्र का दास। दास, दास, दास। उसकी हर क्रिया – उसका खाना और उसका पीना। उसे एक नियमित पद्धति से खाना होगा; पहले ग्रास के साथ अमुक प्रार्थना, दूसरे के साथ अमुक, तीसरे के साथ अमुक और जब वह पानी पीता है तो अमुक प्रार्थना के साथ। इस पर जरा विचार करो! इस प्रकार दिन-पर-दिन यह चलता रहता है।

परन्तु वे लोग विचारक थे; जानते थे कि यह सच्ची महानता तक नहीं पहुँचा सकता, अतः उन्होंने सबके लिए बाहर निकलने का एक रास्ता छोड़ दिया। आखिरकार उन्हें पता लग गया कि ये सभी नियम केवल इसी जगत् और जागतिक जीवन के लिए हैं। ज्योंही तुम धन से विमुख हो जाते हो, बाल-बच्चे नहीं चाहते – त्योंही इस संसार से तुम्हें कुछ लेना देना नहीं – तुम पूर्णतया मुक्त होकर जा सकते हो। जो लोग इस प्रकार चले जाते हैं, उन्हें संन्यासी कहा जाता है अर्थात् वे लोग जिन्होंने त्याग कर दिया है। उन लोगों ने कभी अपने को संगठित नहीं किया और न अब कर रहे हैं; यह ऐसे नर-नारियों का एक सम्प्रदाय है, जिन्होंने विवाह करने से इन्कार कर दिया है, सम्पत्ति रखने से इन्कार कर दिया है और उनके लिए नियम नहीं है – यहाँ तक कि वेद भी उन्हें नहीं बाँध सकते। वे वेदशीर्ष हैं, हमारी सामाजिक संस्थाओं के विपरीत छोर पर खड़े हैं। वे जाति के परे हैं। वे विकसित होकर उसके परे जा चुके हैं। वे इतने बड़े हैं कि ये छोटे-मोटे नियम उन्हें बाँध नहीं सकते। केवल दो ही चीजें उनके लिये जरूरी हैं – उन्हें धन-सम्पदा नहीं रखनी चाहिए और विवाह नहीं करना चाहिए। यदि तुम विवाह करके गृहस्थी बसाओ या सम्पत्ति रखो, तो नियम तुम पर तत्काल लागू हो जायेंगे; पर यदि तुम इन दोनों में से कुछ भी न करो, तो तुम स्वाधीन हो। वे लोग हमारी जाति के जीवन्त देवता थे; और हमारे निन्यानबे प्रतिशत महान् नर-नारियाँ उन्हीं में दीख पड़ते थे।

प्रत्येक राष्ट्र में व्यक्ति की सच्ची महानता का अर्थ है – असाधारण व्यक्तित्व और ऐसा व्यक्तित्व तुम्हें समाज में नहीं मिल सकता। वह (महान् व्यक्ति) समाज में घुटन महसूस करता है और उसका ध्वंस कर देना चाहता है। यदि समाज उसे दबाकर रखना चाहता है, तो वह भी समाज को चूर्ण-विचूर्ण कर देना चाहता है। और उन लोगों ने एक सहज मार्ग निकाल लिया। वे कहते हैं, "ठीक है, एक बार जब आप समाज के बाहर चले गये, तो आप जो चाहें शिक्षा दे सकते हैं, प्रचार कर सकते हैं। हम आपकी दूर से ही पूजा करेंगे।"

इस प्रकार चरम व्यक्तिवादी नर-नारियों का अस्तित्व था और वे पूरे समाज में सर्वोच्च व्यक्ति माने जाते हैं। यदि उन गैरिक वस्त्रधारी मुण्डित-मस्तकों में से कोई आता, तो राजा को भी उनकी उपस्थिति में बैठे रहने का साहस नहीं था, वह खड़ा हो जाता था। फिर हो सकता है कि उन्हीं में से कोई संन्यासी अगले आधे घण्टे बाद उसी की किसी निर्धनतम प्रजा की कुटिया के द्वारा पर खड़ा हुआ रोटी का एक टुकड़ा पाकर ही सन्तुष्ट हो रहा है। और उसे हर श्रेणी के लोगों के साथ मेलजोल रखना पड़ता है। किसी दिन वह एक निर्धन के साथ उसकी कुटिया में सोता है, तो अगले दिन सम्भव है कि वह राजा के सुन्दर पलंग पर सो रहा हो। एक दिन वह राजमहल के स्वर्णपात्रों में भोजन करता है और दूसरे दिन उसे निराहार रहकर एक वृक्ष के नीचे सोना पड़ता है। समाज इन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखता है और इनमें से कोई-कोई केवल अपनी व्यक्तिवाद दिखाने के लिए जनता की धारणाओं को धक्का देने का प्रयास करते हैं। परन्तु जब तक वे पूर्ण पवित्रता और निर्धनता – इन दो सिद्धान्तों का पालन करते हैं, तब तक लोग उनसे भड़कते नहीं।

परम व्यक्तिवादी होने के कारण वे लोग सभी प्रदेशों में जाकर सर्वदा नये सिद्धान्तों और योजनाओं को अपनाते रहते हैं। वे कुछ-न-कुछ नया सोचते रहते हैं, वे पुरानी लीकों में नहीं चल सकते। बाकी लोग हम सबको एक समान सोचने को मजबूर कर पुरानी लीकों पर ही दौड़ाने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु मानवीय स्वभाव किसी भी मानवीय मूर्खता से श्रेष्ठ है। हमारी महानता हमारी दुर्बलता से श्रेष्ठतर है और अच्छाइयाँ बुराइयों से कहीं अधिक शक्तिशाली हैं। मान लो वे हम सबको एक ही लीक में विचार कराने में सफल हो गये, तो हम वहीं रह जायेंगे, सोचने के लिए कोई विचार नहीं रह जायेगा; हमारी मृत्यु हो जायेगी।

वह एक ऐसा ही समाज था, जिसमें सप्राणता का प्राय: नाम तक न था। इसके सदस्य नियमों की लौह-शृंखला से दबे हुये थे। वे एक-दूसरे की सहायता करने को विवश थे। उन्हें प्रचण्ड नियमों के अधीन रहना पड़ता था; मृत्यु के क्षण तक, यहाँ तक कि साँस लेने के नियम; कैसे हाथ-मुँह धोएँ, कैसे नहायें, कैसे दन्तधावन करें आदि सब नियम थे। और इन नियमों के परे था संन्यासी का वह अद्भुत व्यक्तित्ववाद। वह ऐसा था। और इन प्रबल व्यक्तित्ववादी लोगों के बीच हर रोज एक नये सम्प्रदाय का उदय हो रहा था। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ हमें उनके वैशिष्ट्य के बारे में बताते हैं – एक महिला के बारे में बताते हैं, जो प्राचीन काल की बड़ी विचित्र वृद्धा थी। उसके पास सर्वदा कुछ नया विचार रहता था। कभी कभी उसकी आलोचना होती थी, परन्तु लोग सदा उससे डरते थे। चुपचाप उसकी आज्ञा मानते थे। अत: प्राचीन काल में ऐसे महान् नर-नारी रहते थे।

और नियम के बोझ से दबे इस समाज के भीतर पुरोहितों के हाथों में सारी शक्तियाँ थीं। सामाजिक संरचना में पुरोहित सर्वोच्च जाति है और चूँकि वह एक व्यवसाय है – मुझे दूसरा कोई शब्द ज्ञात नहीं इसीलिये मैं 'पुरोहित' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। इस देश में जिस अर्थ में यह शब्द व्यवहृत होता है, उस अर्थ में हमारे यहाँ नहीं होता, क्योंकि हमारे पुरोहित धर्म या दर्शन की शिक्षा नहीं देते। पुरोहित का कार्य है – इन बताये गये नियमों को पूरी तौर से पालन करना। पुरोहित वह है जो आपको इन नियमों के पालन में सहायता देता है। वह आपकी शादी कराता है, आपके श्राद्ध के अवसर पर प्रार्थना करने आता है। अत: किसी भी नर-नारी के सभी संस्कारों के अवसर पर पुरोहित की उपस्थिति आवश्यक है। समाज में विवाह करना ही आदर्श है। प्रत्येक को विवाह करना होगा। यही नियम है। विवाह के बिना व्यक्ति का अस्तित्व अधूरा है, अत: वह कोई भी धार्मिक संस्कार पूरा नहीं कर सकता। अत: वह अनुष्ठान के योग्य नहीं – यहाँ तक कि पुरोहित भी जब तक विवाहित न हो, पुरोहित का कर्तव्य पूरा नहीं कर सकता। अधूरा आदमी समाज के लिए अनुपयुक्त है।

अब पुरोहित की शक्ति में अत्यन्त वृद्धि हो गयी। ... हमारे राष्ट्रीय विधि-निर्माताओं की यह सामान्य नीति थी कि पुरोहितों को यह सम्मान दिया जाय। उनके पास भी वही समाजवादी योजना थी, जिसे तुम आज (आजमाकर) देखने को तैयार हो। इसने उन्हें धन एकत्र करने से रोका। इसके पीछे क्या उद्देश्य था? सामाजिक प्रतिष्ठा। स्मरण रहे कि सभी देशों की सामाजिक संरचना में पुरोहित का स्थान सर्वोच्च है। यहाँ तक कि भारत में परम निर्धन ब्राह्मण भी जन्म से ही देश के महानतम सम्राट् से भी बड़ा है। वह भारत का कुलीन है। परन्तु नियम उसे कभी धनाढ्य बनने की अनुमति नहीं देता। नियम उसे गरीबी में पीसता है – केवल वह उसे यह सम्मान ही देता है। हजारों चीजें करना उसके लिये निषिद्ध है और सामाजिक ढाँचे में उसकी जाति जितनी ही उच्च होगी, उसके भोग भी उतने ही सीमित होंगे। जाति जितनी ही उच्च होगी, वे उतने ही कम प्रकार के खाद्य-पदार्थ, उतने ही कम परिमाण में ग्रहण कर सकते हैं, उतने ही कम प्रकार के व्यवसाय अपना सकते हैं। तुम्हें ऐसा जीवन निरन्तर कठोरता की शृंखला प्रतीत होगी, इससे अधिक कुछ नहीं। यह खाने-पीने तथा सब कुछ में एक निरन्तर अनुशासन है। और निम्न जातियों के लिये जो दण्ड निर्धारित हैं, ऊँची जातियों को उससे दसगुना दिया जाता है। एक निम्नतम व्यक्ति के झूठ बोलने पर यदि एक डॉलर का दण्ड है, तो ब्राह्मण को उसी के लिये सौ डॉलर देना होगा, क्योंकि उसका ज्ञान श्रेष्ठतर है।

❖ (क्रमश:) ❖

जीने की कला (५)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

विश्वास भय को खा जाता है

जमीन पर रखे एक बीस फीट लम्बे, एक फुट चौड़े और दो इंच मोटे लकड़ी के पटरे पर एक बालक से चलने को कहो। वह निर्भय होकर उस पर चलता है। अब उसी पटरे को जमीन से बीस फीट ऊपर रखकर बालक से उस पर चलने को कहो। नीचे गिर जाने का भय उसके हृदय को जकड़ लेता है। कोई प्रोत्साहन वाणी या पुरस्कार का प्रलोभन भी उसे वह कार्य करने में प्रेरित नहीं करता। यदि वह पक्के इरादे से उस पटरे पर चलने का निर्णय भी करे, तो पहला कदम चलने में भी उसे चक्कर आने लगता है। बालक रुक जाता है। पुरस्कार के आकर्षण के बावजूद भय उसकी इच्छा-शक्ति पर हावी हो जाता है। वही बालक जो भय से मरा जा रहा था, धीरे-धीरे वही कार्य करने को प्रशिक्षित किया जा सकता है। थोड़ा-थोड़ा करके उस पटरे की ऊँचाई बढ़ाओ, तो फिर बालक निर्भय होकर उस पर चलना सीख लेता है।

मन के सन्देह और भय से मुक्त होने पर विश्वास-बल प्राप्त होता है। प्रारम्भ में वह बालक उतनी ऊँचाई पर रखे हुए पटरे पर चलने से इसलिए डर रहा था, क्योंकि वह कदम लड़खड़ा जाने के भय से ग्रस्त था। परन्तु क्रमिक प्रशिक्षण ने उसे नकारात्मक भावनाओं पर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना दिया और उसके स्थान पर निश्चयता का भाव सुदृढ़ हो गया। बार-बार के अनुभवों के परिणाम से आत्मविश्वास आता है।

अब हम किसी व्यक्ति के आत्मविश्वास के बारे में एक निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि यह उसकी सकारात्मक तथा विधेयात्मक धारणाओं का कुल योग है। पिछले उदाहरण में, बीस फीट की ऊँचाई पर खड़ा हुआ वह बालक अति भयाक्रान्त था, पर नियमित अभ्यास से वह भय चला गया और उसकी जगह 'हाँ, यह सम्भव है' की सकारात्मक धारणा स्थापित हो गई है। अत:, विश्वास एक सकारात्मक दृष्टिकोण है, जो बार-बार के अनुभवों और प्रयत्नों से दृढ़ होता जाता है। विश्वास किसी साधारण धारणा से भिन्न है। तुम विश्वास के आधार के बिना कितनी भी धारणाएँ रख सकते हो, परन्तु धारणाओं के आधार के बिना कभी विश्वास नहीं हो सकता। अत: विश्वास प्रायोगिक प्रयोगों द्वारा विकसित तथा अनुभवों द्वारा सत्यापित एक रचनात्मक धारणा है। यदि उस बालक ने उतनी ऊँचाई पर चलने का आत्मविश्वास विकसित कर लिया है, तो 'मैं इतनी ऊँचाई पर चल सकता हूँ' – उसकी यह धारणा दृढ़ हो चुकी है, अत: उसमें भय के भाव आते। इसलिए विश्वास – मन का एक सकारात्मक, विधेयात्मक दृष्टिकोण है।

हमारा मन सदैव ही भय, घृणा, निन्दा तथा कष्ट की भावना का विरोध करता है। आलसी और काम से जी चुराने वाले युवा लोगों में बारम्बार विफलता के अनुभव से उत्पन्न कष्ट, घृणा तथा भय की यह प्रबल भावना होती है कि "मैं यह कार्य नहीं कर सकता।" हमें प्रयास करना होगा कि बच्चे कुछ उपलब्धि कर सकें तथा विफलताओं से हतोत्साहित न हों, बल्कि इसके स्थान पर वे बारम्बार प्रयास में प्रोत्साहित होकर अन्तात: सफलता प्राप्त करें। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि उनका आत्मविश्वास अनुदिन बढ़ता रहे।

शिक्षा में आत्मविश्वास का सर्वोपरि महत्त्व है। शिक्षकों को बड़े धैर्यपूर्वक बच्चों में आत्मविश्वास बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। क्या यह सबके लिए एक चिन्ता का विषय नहीं है?

भय दरवाजे पर दस्तक देता है। विश्वास दरवाजा खोलकर पूछता है, "कौन है?" वहाँ तो कोई भी नहीं है। विश्वास की आवाज सुनते ही भय सिर पर पाँव रखकर भाग जाता है।

स्वयं में विश्वास और ईश्वर में विश्वास – ये ही सफलता तथा उपलब्धि की कुंजियाँ हैं।

भय का भण्डार

बहे जा रहे एक विशाल हिमशैल का मात्र एक छोटा-सा अंश ही जल की सतह पर दृष्टिगोचर होता है। हिमशैल का विशाल अदृश्य भाग जलमग्न रहता है। इसी भाँति हमारे मन का एक अल्पांश ही सतह पर क्रियाशील रहता है और शेष भाग अवचेतन में छिपा रहता है। अवचेतन मन के अधिकांश क्रिया-कलापों को हम समझ नहीं पाते। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हमारे अधिकांश व्यवहार, दृष्टिकोण तथा भावनाएँ इस अवचेतन मन द्वारा ही नियंत्रित होती हैं। हम प्राय: अपने भय तथा पीड़ा के कारण से अनभिज्ञ रहते हैं। उनकी जड़ें मन की गहनतर परतों में सन्निहित होती हैं। इस गहराई के अदृश्य उद्गम में रहकर भय हम पर शासन करता है। यह अचेतन या अवचेतन मन भय की आधारभूमि या भण्डार है।

भय – रक्तपिपासु दैत्य

भय की कुछ ग्रन्थियाँ सभी मनुष्यों को प्रताड़ित करती हैं। बाह्य रूप से हम उसकी अभिव्यक्ति को नहीं देख सकते, पर अवचेतन स्तर पर वह पीड़ित करती है। सामान्य भय एक

तरह से सुरक्षात्मक होता है। यह हमें सावधान करके वर्तमान और भविष्य के खतरों से हमें आगाह कर देता है। (परन्तु) काल्पनिक तथा आधारहीन भय हमें कदम कदम पर परेशान और दुर्बल बनाते रहते हैं। यह मन में कमजोरी लानेवाली एक बीमारी है। यह हमारी शक्ति नहीं, अपितु हमारी कमजोरी तथा असमर्थता को व्यक्त करती है। हमारी दैहिक, मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता का एकमात्र कारण भय ही है। इन सभी रोगों का मूल कारण अज्ञान है।

कुछ देशों में लोग नरपिशाचों में विश्वास करते हैं, जो लोगों का खून चूसा करते हैं। ये तथाकथित पिशाच तो केवल निद्रित अवस्था में ही खून पीते हैं, परन्तु यह काल्पनिक भय जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – तीनों ही अवस्थाओं में हमारा खून पीता रहता है। जैसे कीटाणु और रोगाणु केवल गन्दे तथा अस्वच्छ स्थानों में ही जन्म लेते हैं, वैसे ही भय भी केवल अज्ञानी मनों में ही उत्पन्न होता है। निर्भयता भी मन की ही एक वृत्ति है। कुछ लोग बचपन से ही, अपने माता-पिता अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, भय की इस दूषित प्रवृत्ति से ग्रस्त होते हैं। केवल कुछ विरले भाग्यवान लोग ही सदैव निर्भय रहना सीख पाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहस, स्थिरता, बल और धैर्य आदि भय की दुर्बलकारी भावनाओं को निर्मूल कर सकते हैं। एकमात्र मन ही किसी की भी सफलता, समृद्धि और उसके दुःख-कष्टों के लिए भी उत्तरदायी है – यह प्राचीन उक्ति आज भी उतनी ही सत्य है।

भय के परिणाम

भयग्रस्त होने पर हमारे दिल की धड़कन बढ़ जाती है, शरीर काँपने लगता है और श्वास-प्रश्वास असन्तुलित हो जाती है। हमें बहुत पसीना आने लगता है और हम कह उठते हैं, "हमें विचित्र-सा लग रहा है।" हमारी विचार-शक्ति धूमिल हो जाती है और हम पूर्णतया हतप्रभ रह जाते हैं। ऐसी स्थितियाँ हमारे शरीर तथा मन – दोनों को ही अशक्त करके हमारे विश्वास को चकनाचूर कर देती है। भय से पीड़ित कोई भी व्यक्ति उचित ढंग से कार्य नहीं कर सकता। अनिद्रा, विभ्रम और उच्च रक्तचाप आदि मानवता को इसके उपहार हैं। कुछ संक्रामक भय निराधार होते हैं, तथापि वे व्यवहार में असामान्यता ला देते हैं। भयभीत लोग सभी प्रकार के जघन्य कृत्य कर बैठते हैं। एक विशेषज्ञ का कहना है कि प्रति वर्ष साँप काटने से एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के कारण हजारों साँपों को निर्दयतापूर्वक मार डाला जाता है। इस क्रूर आचरण के पीछे सूक्ष्म ढंग से आतंक ही कार्य करता है। भय सर्वत्र ही अपना भयावह सिर उठा रहा है। विकासशील देशों को अमेरिका से भय लगता है, अरब लोग यहूदियों से और यहूदी अरब लोगों से भयभीत हैं। श्वेत अश्वेतों से तथा अश्वेत श्वेतों से भयभीत रहते हैं। मनुष्य की स्वार्थ-केन्द्रिता के कारण राष्ट्रीय, अन्तराष्ट्रीय, धार्मिक या सामाजिक – जीवन के सभी क्षेत्रों में भय का बे-रोकटोक शासन चलता है। भय से सन्देह, सन्देह से क्रोध, क्रोध से हिंसा और हिंसा से विनाश का पथ प्रशस्त होता है। भय के कारण सभी उत्तम गुण नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य हिंसक पशु बन जाता है। भय कभी आकाश में नहीं, बल्कि मानव-मन में रहता है। यद्यपि बमों का निर्माण कारखानों में होता है, परन्तु उनका मूल मानव-मन में छिपे भय में होता है। अतः इसे जड़सहित उखाड़ फेंकना होगा। किसी राष्ट्र द्वारा अनुभूत भय उसकी जनता का सामूहिक भय है। एक निर्भय महान् नेता अपने साहस, पराक्रम और उदात्त आदर्शों के द्वारा मानव-समाज के भाग्य को पलट देता है।

क्या हमें स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी के जीवन में ऐसी महानता के दर्शन नहीं होते? जब भारतवासियों ने अँग्रेज सैनिकों की गोलियों से डरना बन्द कर दिया, तब अँग्रेजों को भारत छोड़कर वापस लौटना पड़ा।

भय के विभिन्न प्रकार

महाभारत में भीष्म पितामह कहते हैं कि राजा समकालीन समाज पर अपना प्रभाव-विस्तार करता है। इसलिये नेतागण और उच्च पदस्थ लोग आम जनता के जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं। वे जन-साधारण को सद्भाव, सहयोग तथा निर्भयता के आदर्शों से अनुप्राणित कर सकते हैं। भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशी आक्रमणकारी तथा भारत के बारे में अध्ययन करने आये विद्वान् यात्री कुछ राजाओं के शासन-काल के दौरान भारत में प्रचलित उच्च नैतिक मानदण्डों की प्रशंसा में प्रशस्ति-गान कर गये हैं। पर पदलोलुप, अदूरदर्शी, जनता के प्रति सहानुभूति से रहित और अनेक बन्धनों से जकड़े हुये नेतागण भला क्या उपलब्धि दिखा सकते है? अपनी शक्ति के छिन जाने के भय से पीड़ित ये नेतागण जनता के मन में भय का बीजारोपण करके उनमें फूट डालते रहते हैं। वैसे हम समूचे संसार को तो नहीं सुधार सकते, परन्तु अपना सुधार अवश्य ही कर सकते हैं। कार्लाइल ने कहा था, "यदि तुम स्वयं को बदल लो, तो संसार को कम-से-कम एक मूर्ख से छुटकारा मिल जायेगा।" यदि व्यक्तिगत जीवन से भय चला जाय, तो सामुदायिक जीवन स्वयं ही भयमुक्त हो जायेगा।

मनुष्यों को त्रस्त करनेवाले भय विभिन्न प्रकार के हैं –

विभिन्न रोगों का भय
विषैले सर्पों का भय
भूत-प्रेतों और काले जादू का भय
कर्मकाण्डीय अशुचिता का भय
निर्धनता और अपमान का भय
प्रियजनों से वियोग का भय

कारोबार में घाटे का भय
(छात्रों में) परीक्षा का भय
गलत कार्यों के लिए सजा पाने का भय
अपने ही लोगों द्वारा छले जाने का भय
ऋणग्रस्त होने का भय
ऋण चुकाने में असमर्थ होने का भय
सरकार द्वारा सम्पत्ति की जब्ती का भय
चोरों और डकैतों का भय
युद्ध तथा विनाशकारी हथियारों का भय
प्रदूषित पर्यावरण का भय
मृत्यु और नरक की यातना का भय
और अन्य विभिन्न प्रकार के भय

क्या तुम जानते हो कि भय का कठोर फन्दा किसी व्यक्ति को किस प्रकार उत्पीड़ित करता है?

भय तथा आतंक के प्रभाव

नाग के उठे हुए फन तथा उसकी भयावह मुखाकृति को देखते ही चूहा भय के मारे अधमरा तथा अचल हो जाता है।

बाघ की निगाह में आते ही बन्दर इतना भयभीत हो जाता है कि सुरक्षित ऊँचाई पर होने के बावजूद उसके हाथ शिथिल हो जाते हैं और डाली छूट जाने के कारण वह बाघ के सामने गिरकर उसके मुख का निवाला बन जाता है।

एक हिरन एक लंगड़े सिंह की दहाड़ सुनता है। इससे भयभीत होकर वह बिना दिशा का विचार किये ही सरपट दौड़ने लगता है। वैसे वह बड़ी तीव्र गति से दौड़ सकता है, परन्तु भयभीत होकर शेर के दहाड़ की दिशा का विचार किए बिना दौड़ते हुए वह सिंह के ठीक सामने जा पहुँचता है।

वैसे यह तो स्वाभाविक ही है कि एक चूहा नाग से डरे, बन्दर बाघ की क्रूर दृष्टि से डरे और हिरन सिंह की दहाड़ सुनकर भयभीत हो जाय। भय पहले से ही सावधान हो जाने तथा आत्मरक्षा का एक साधन है। परन्तु भय का अतिरेक सुरक्षा का साधन होने के स्थान पर घातक सिद्ध हो सकता है।

ऐसी भी घटनाएँ होती हैं, जब व्यक्ति अँधेरे में कुछ देखकर, उसकी भूत या चोर के रूप में कल्पना करके, उसके भय से इतना जड़ हो जाता है कि मदद के लिए भी चिल्ला तक नहीं सकता।

एक व्यक्ति बोला, "मैं भूत-प्रेतों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता, परन्तु अँधेरी रात में कहीं अकेले जाने में मुझे भय लगता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई मेरे पीछे-पीछे चल रहा हो। इसके फलस्वरूप मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।" दूसरे व्यक्ति ने कहा, "तथाकथित राहू, केतु और शनि से प्रभावित अशुभ कालों के अनुसार चलना अन्धविश्वास तो है, परन्तु इन मुहूर्तों में मैं कोई भी शुभकार्य आरम्भ करना नहीं चाहता। क्योंकि मैं अपनी पत्नी और बच्चों की भावनाओं को आहत नहीं करना चाहता।"

हम बचपन में कई प्रकार के भयों को आत्मसात् कर लेते हैं और वे हमारे मन में गहरी जड़ें जमाये रहते हैं। यदि हम उन्हें भगाने का प्रयास करें, तो भी वे हमें छोड़ कर नहीं जाते। वे निष्क्रिय भी नहीं रहते। हमारे भीतर छिपे रहकर वे प्राय: ही हमारी उन्नति के पथ में बाधायें तथा रोड़े अटकाते रहते हैं।

एक नया-नया साइकिल चलाना सीखनेवाला विपरीत दिशा से आ रहे वाहनों से घबराकर अपना सन्तुलन खो बैठता है और गड्ढे में गिरने से बचने का प्रयास करता है, परन्तु भय से त्रस्त वह सँभलते-सँभलते भी गड्ढे में गिर ही पड़ता है।

परीक्षा में बैठने के पूर्व तक छात्रगण अध्ययन करते रहते हैं, ताकि कहीं वे परीक्षा-कक्ष में कुछ भूल न जायँ। तो भी प्रश्न हल करते समय वे प्राय: कुछ महत्वपूर्ण बातों को भूल ही जाते हैं और कक्ष से बाहर निकलते ही उन भूली हुई बातों को याद करके अपनी स्मृति-लोप पर पश्चाताप करते हैं। परीक्षा-भय से उत्पन्न दु:ख का तो अन्त ही नहीं है। इसी भय के कारण छात्रगण अनुचित साधनों का उपयोग करने लगते हैं। क्या इस भय को दूर करने का कोई उपाय नहीं है?

चिन्ता का मकड़जाल

जब भय तथा चिन्ता एक साथ क्रियाशील होती हैं, तो हमारी कल्पना के हानिकारक और खतरनाक चित्र वास्तविक रूप धारण कर लेते हैं।

वह बातचीत करने में अत्यन्त कुशल था और उस दिन उसे अपना पहला भाषण देना था। उसने एक प्रभावशाली भाषण देने का पक्का इरादा किया था और इसके लिए उसने ठोस तैयारी भी कर ली थी। अभ्यास करते समय उसने अपने परिवार के सदस्यों को भी अपना भाषण सुनाया था। अपने सर्वोत्तम वेष में सज्जित होकर, चेहरे पर मुस्कान लिए, बड़े स्वाभिमान एवं पूर्ण आत्मविश्वास भरी चाल में वह व्याख्यान-कक्ष में प्रविष्ट हुआ। हर व्यक्ति उसका व्याख्यान सुनने को उत्सुक था। वे लोग बड़ी उत्सुकता के साथ उसके मुख की ओर ताक रहे थे। जब उसने अपने श्रोताओं पर दृष्टि घुमाई,

तो उसे लगा मानो हजारों तीक्ष्ण निगाहें उसे भेद रही हैं। उसके होठ सूखने लगे। उसने अपनी जिह्वा फेरकर होठों को संयमित रखना चाहा, परन्तु उसके चेहरे पर चिन्ता के भाव प्रकट हो गये। व्याख्यान देने के लिए खड़े होने पर अपनी घबराहट को दबाने के लिये वह एक या दो बार खाँसा भी। ठण्ड का मौसम होने के बावजूद उसे पसीना आने लगा। ४५ मिनट के लिए तैयार की गयी वक्तृता को वह १० मिनट से अधिक जारी नहीं रख सका। बोलते-बोलते वह सहसा रुक गया और अस्वस्थता का बहाना बनाकर घर लौट आया।

बाद में उसने बताया, "अनौपचारिक वार्तालाप के समय अपने सामने बहुत-से लोगों को देखकर मुझे जरा भी भय नहीं लगता, पर श्रोताओं के समक्ष मैं बुरी तरह घबरा जाता हूँ।"

भय और तनाव हमारे सारे कर्मों को बर्बाद कर डालते हैं। एक किसान ने हर रोज की भाँति एक दिन सुबह अपने घर के एक कोने में रखे हुए बोरे से बुवाई के लिए बीज निकाले। बीज निकालते समय उसे ऐसा लगा कि उसके पैर की अँगुली में कुछ चुभ गया है। पर उधर ध्यान दिये बिना सारे दिन वह खेत में काम करता रहा। शाम को घर लौटकर जब वह बचे बीजों को बोरे में रखने लगा, तभी उसमें से एक साँप निकलकर फुफकारने लगा। साँप को देखते ही उसे प्रात: अपने पैर में हुई चुभन की बात याद आ गयी। उसे लगा कि उसे साँप ने ही काटा था। वह वहीं गिर पड़ा और तत्काल मर गया। वह साँप के डँसने से नहीं, बल्कि भय के कारण मरा।

भय की विभीषिका को दर्शानेवाली एक कथा है। एक बार यमराज ने अपने दूतों को पृथ्वी से ४०० जीवों को लाने का आदेश दिया। उन लोगों ने कई बीमारियाँ फैलाकर ४०० लोगों को मारने की व्यवस्था की। परन्तु जब वे लोग यमलोक पहुँचे, तो उनके साथ ४०० लोगों की जगह ८०० लोग थे। यमराज ने इस पर क्रोधित होकर अपने आदेश की अवहेलना के लिए उन्हें फटकारा। वे लोग बोले, "प्रभो, हमने केवल ४०० को ही मारा था, बाकी ४०० तो भय से मर गये।

भय – एक चुनौती

कर्कश आवाज सुनकर शिशु भयभीत हो जाता है। चलना सीखते समय तक वह लड़खड़ाने तथा गिरने के भय से ग्रस्त रहता है। भय सभी की एक स्वाभाविक तथा जन्मजात प्रवृत्ति है। हमारे अस्तित्व या स्वाधीनता पर मँडरानेवाला कोई संकट या केवल उसके बारे में कोई आशंका भी हमारे मन मे भय के बीज बो देती है। जीवन की समस्याओं का सामना करने में अपनी सामर्थ्य में आत्मविश्वास का अभाव भी हमें भयग्रस्त कर देता है। हीन-भावना सहज भाव से भय की ओर ले जाती है। एक बार जब कोई व्यक्ति किसी खतरे का सामना करके सफलता -पूर्वक उससे बच निकलता है, तो उसमें साहस व आत्मविश्वास आ जाता है। एक बच्चा गिरने के भय से चलने से कतराता है, परन्तु धीरे-धीरे वह न केवल चलना, अपितु दौड़ना भी सीख जाता है। स्वस्थ भय हमें उचित ढंग से सावधान बनाता है, परन्तु निश्चय ही कल्पनाप्रसूत अतिरंज़ित भय हानिकारक है। खतरे की भावना के द्वारा हमें खतरे की बाधाओं को पार करने की युक्ति निकालने की प्रेरणा मिलनी चाहिए। इस दृष्टि से भय को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। यह हमारे भीतर के आन्तरिक बल को जाग्रत करने का एक सुअवसर प्रदान करता है।

❖ (क्रमश:) ❖

अनमोल बोल

* ऊँचे विचार सर्वदा उस व्यक्ति को पा लेते हैं, जो उनकी खोज में रहता है।

* तुम्हारे अपने भय के कारण ही सिंह को भयावहता प्राप्त होती है।

* कठिनाई को कठिनाई मान लेना मनुष्य की सबसे बड़ी कठिनाई है।

* राजमुकुट सर्वदा काँटों का ही बना होता है।

* तुम ज्योंही स्वयं से पूछते हो कि क्या मैं सुखी हूँ, त्योंही तुम्हारा सुख हवा हो जाता है।

* आदतें स्वयं में कोई समस्या नहीं हैं, पर उन्हें दूर करना असम्भव मान लेना ही समस्या है।

* कठिनाइयों में से होकर गुजरना ही उन्हें पार करने का सबसे उत्तम तरीका है।

ईसप की नीति-कथाएँ (२५)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

भाई और बहन

एक पिता की दो सन्तानें थीं – एक पुत्र और एक कन्या। पुत्र देखने में अतीव सुन्दर था और पुत्री परम कुरूप। बचपन में ही एक बार जब वे दोनों खेल रहे थे, तो उन्होंने संयोगवश अपनी माँ की कुर्सी पर रखे दर्पण में अपने चेहरे देख लिए। लड़के ने अपना सुन्दर चेहरा देखकर स्वयं को धन्य माना और लड़की अपना कुरूप चेहरा देख तथा अपने भाई की आत्मप्रशंसा सुनकर अतीव दुखी तथा क्रोधित हो गयी। वह अपना दुखड़ा सुनाने के लिए दौड़ती हुई पिता के पास जा पहुँची और भाई के बारे में शिकायत करने लगी।

पिता ने दोनों को गले से लगाकर उन्हें चूमते हुए कहा, "मैं तो चाहता हूँ कि तुम दोनों प्रतिदिन दर्पण में अपना अपना चेहरा देखो। पुत्र, तुम इसलिए देखो कि कहीं तुम्हारे दुराचरण से तुम्हारी सुन्दरता बिगड़ न जाय। और बेटी, तुम इसलिए देखो ताकि तुम अपनी सुन्दरता की न्यूनता की अन्य गुणों द्वारा भरपाई करने का प्रयास कर सको।

भेड़िया और घोड़ा

चने के खेत से निकलते हुए एक भेड़िये की एक घोड़े से मुलाकात हो गयी। उसने घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहा, "भाई, मेरी सलाह है कि तुम इस खेत में जाओ। यह अति उत्तम चने की फसल से भरा पड़ा है, परन्तु मैंने तुम्हारे बारे में सोचकर इसमें मुँह नहीं लगाया। तुम मेरे प्रिय मित्र हो और तुमने अच्छा भोजन किया है, सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।" घोड़े ने उत्तर दिया, "यदि चना भेड़ियों के लिए उपयुक्त भोजन होता, तो तुम कभी अपने पेट की कीमत पर अपने कानों की प्रसन्नता पर ध्यान नहीं देते।"

दुष्ट लोग बुरे कार्यों के लिए प्रेरणा देकर भी अच्छे कार्य का श्रेय लेने का प्रयास करते हैं।

ततैये, वनमुर्ग और किसान

कुछ ततैये और जंगली मुर्गे प्यास से त्रस्त होकर एक किसान के पास गये और पीने के लिए पानी देने का अनुरोध करने लगे। उन्होंने वादा किया कि वे उसके अहसान का बदल भी चुका देंगे। मुर्गों ने कहा कि वे अंगूर की लताओं के चारों ओर अपनी चोंच से खुदाई कर देंगे ताकि फसल और भी उत्तम हो। ततैयों ने कहा कि वे लताओं की रखवाली करेंगे और चोरी के निमित्त किसी के आने पर उसे डंक मारकर भगा देंगे। किसान ने उन्हें बीच में ही टोकते हुए कहा, "मेरे पास पहले से ही दो बैल हैं, जो बिना कोई वादा किये ये कार्य करते रहते हैं। तुम लोगों के स्थान पर उन्हें जल पिलाना मेरे लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा।

अपने काम निकालने के लिए लोग प्राय: लम्बे-चौड़े वादे किया करते हैं, परन्तु मतलब सिद्ध हो जाने के बाद शायद ही कोई मुड़कर देखता है।

कौआ और बुध देवता

जाल में फँस गये एक कौए ने जान बचाने का अन्य कोई उपाय न देख मंगल देवता से प्रार्थना की और छूट जाने पर उनके मन्दिर में भेंट चढ़ाने का वचन दिया। परन्तु एक बार खतरे से बच निकलने के बाद वह अपना वचन भूल गया।

थोड़े दिनों बाद ही वह फिर एक जाल में फँसा। इस बार उसने मंगल देवता को छोड़ बुध देवता से प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना की और बच जाने पर उनके मन्दिर में कुछ भेंट चढ़ाने का वादा करने लगा।

थोड़ी देर बाद बुध देवता प्रकट होकर बोले, "अरे नीच, तूने अपने पिछले रक्षक को धोखा दिया और अब मुझे पुकार रहा है। तेरी बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है।"

धोखा केवल एक बार ही दिया जा सकता है।

उत्तरी वायु और सूर्य

वायु तथा सूर्य में विवाद हुआ कि दोनों में से कौन ज्यादा बली है और इसका फैसला करने के लिए उन्होंने एक युक्ति का सहारा लिया। सड़क से होकर एक राहगीर जा रहा था। दोनों इस बात पर सहमत हुए कि दोनों में से जो भी उसके कपड़े उतरवा देगा, वही विजेता माना जायेगा।

पहले वायु ने अपनी ताकत आजमाने का प्रयास किया। वह अपनी पूरी ताकत के साथ आँधी के रूप में चलने लगी। परन्तु ज्यों ज्यों उसका वेग बढ़ा, राहगीर अपने वस्त्र को और भी अच्छी तरह अपने शरीर से लपेटने लगा। अपने प्रयास में सफलता की कोई सम्भावना न देख आखिरकार वायु ने सूर्य से अपनी ताकत का प्रदर्शन करने को कहा।

सूर्य क्रमश: और भी जोरों से तपते हुए अपनी गर्मी बढ़ाने लगा। गर्मी से राहत पाने के लिए यात्री ने एक एक कर अपने वस्त्र निकालने आरम्भ किये। अन्तत: वह गर्मी से इतना त्रस्त हुआ कि उसने अपने सारे वस्त्र उतार डाले और पास के तालाब में स्नान करने को प्रविष्ट हो गया।

दो शत्रुओं की यात्रा

आपस में घोर शत्रुता रखनेवाले दो व्यक्ति एक ही जलयान में यात्रा कर रहे थे। एक-दूसरे से यथासम्भव दूरी बनाये रखने के प्रयास में उनमें से एक जहाज के अग्र भाग में बैठा और दूसरा उसके दूसरे छोर पर स्थित डेक पर। बीच समुद्र में पहुँचकर जहाज तूफान में फँस गया और वह ऐसा डगमगाने लगा कि उसके डूबने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी।

जहाज के अग्र भाग में यात्रा कर रहा व्यक्ति यान के कप्तान से पूछने लगा कि जहाज का कौन-सा हिस्सा पहले डूबेगा। यह उत्तर मिलने पर कि डेकवाला हिस्सा ही पहले डूबने की अधिक सम्भावना है, वह बोला, "यदि मैं अपने शत्रु को पहले मरते हुए देख लूँ, तो मुझे अपनी मौत का दुःख नही होगा।"

शत्रुता को त्याग पाना अत्यन्त कठिन है।

लड़ाकू मुर्गे और तीतर

एक व्यक्ति के दड़बे में दो लड़ाकू मुर्गे थे। एक दिन उसे बाजार में एक पालतू तीतर मिल गया। वह उसे खरीद कर घर ले आया और उसे भी पालने के लिए मुर्गों के दड़बे में ही रख दिया। तीतर को अपने दड़बे में देखकर मुर्गों ने उस पर आक्रमण किया और उसके पीछे दौड़े। इससे परेशान होकर वह सोचने लगा कि मुझे अजनबी समझकर ही ये लोग मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार कर रहे हैं।

थोड़ी देर बाद उसने देखा कि मुर्गे आपस मे ही लड़ रहे हैं और दोनों एक-दूसरे के साथ तब तक गुत्थम-गुत्था हुए रहे, जब तक कि उनमें से एक बुरी तरह आहत नहीं हो गया। इस पर तीतर सोचने लगा, "जब ये मुर्गे आपस में ही इस प्रकार लड़ते हैं, तो फिर मुझे इनके आक्रमण से परेशान होने की जरूरत नहीं।

व्यक्ति के लिए अपना स्वभाव छोड़ पाना बड़ा कठिन है।

सिंह, भेड़िया और लोमड़ी

एक सिंह वृद्ध हो जाने के कारण बीमार होकर अपनी गुफा में लेटा हुआ था। जंगल के सभी जानवर उसे देखने और उसका हालचाल पूछने आये, एकमात्र लोमड़ी ही नहीं आयी। भेड़िये ने सोचा कि लोमड़ी से बदला निकालने का यही अच्छा मौका है। उसने सिंह से शिकायत करते हुए कहा, "आप जंगल के राजा हैं और आपको सभी की देखरेख करनी पड़ती है, परन्तु लोमड़ी के मन में आपके प्रति जरा भी सम्मान का भाव नहीं है, तभी तो वह आपको देखने नहीं आयी!" उसी समय लोमड़ी गुफा में घुस रही थी और उसने भेड़िये के ये अन्तिम शब्द सुन लिए। सिंह क्रोधित होकर उस पर गरजने लगा, परन्तु लोमड़ी के अनुरोध पर उसका भी पक्ष सुनने को राजी हो गया। लोमड़ी ने कहा, "महाराज, जितने भी लोग आपको देखने आये हैं, उनमें से कोई भी मेरे जितना आपका हितैषी नहीं है। मैं जगह-जगह भटकती हुई चिकित्सकों से आपकी बीमारी की दवा पूछती रही और उसे अच्छी तरह जानकर ही यहाँ आयी हूँ।"

सिंह ने तत्काल उसे वह इलाज बताने का आदेश दिया, जिस पर वह बोली, "इसके लिए आपको एक जिन्दा भेड़िये की खाल उतारकर उसके गरम रहते ही उसे अपने शरीर से लपेट लेना होगा।" भेड़िए को तत्काल ले जाकर उसकी खाल उतार ली गयी।

दूसरों का नुकसान करनेवाले कभी-कभी अपने फन्दे में स्वयं ही गिरफ्त हो जाते हैं।

कुत्ते का घर

जाड़े के दिनों में एक कुत्ता ठण्ड से कँपकँपाता हुआ एक छोटी-सी जगह में पाँव समेटे सोया हुआ था। वह सोच रहा था कि ठण्ड थोड़ी कम हो, तो अपने लिए जरूर एक घर बनाऊँगा। परन्तु जब फिर गर्मी का मौसम आया, तो वह अपना पूरा शरीर फैलाकर लेट गया। अब उसे अपना शरीर बहुत बड़ा प्रतीत हो रहा था। अब उसे लग रहा था कि अपने लिए इतना बड़ा घर बनाना कठिन और अनावश्यक होगा।

काम टालने का कोई-न-कोई बहाना मिल ही जाता है।

भेड़िया और सिंह

सूर्यास्त के समय पहाड़ी के किनारे घूमते हुए भेड़िये ने अपनी बढ़कर फैली हुई लम्बी छाया देखी। उसने अपने मन में सोचा – "इतना बड़ा – लगभग एक एकड़ आकार का होकर भी मैं भला सिंह से क्यों डरूँ? बल्कि मुझे ही तो सभी पशुओं का राजा बन जाना चाहिए।"

जब वह इस तरह के अहंकार-भरे ख्याली पुलावों को पकाने में लगा हुआ था, तभी सिंह ने उसे देख लिया और असावधान देखकर उस पर झपट पड़ा। अपनी अन्तिम साँसे गिनते हुए वह पश्चाताप करने लगा, "धिक्कार है मुझे! स्वयं के बारे में अति-विश्वास ही मेरे नाश का कारण हुआ।"

मेढक बना नकली डॉक्टर

कीचड़ में स्थित अपने घर में से बाहर आकर एक मेढक ने सभी जानवरों के समक्ष घोषणा की कि वह दवाओं के उपयोग में निपुण एक अनुभवी चिकित्सक है और वह हर तरह के रोगों का इलाज करता है। एक लोमड़ी ने उससे पूछा, "जब तुम अपने ही लँगड़ाते हुए पाँवों और चमड़े की सिकुड़न को ठीक नहीं कर सके, तो फिर तुम्हे दूसरों का इलाज करने की हिम्मत ही कैसे हुई?" ❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (१३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(लेखमाला की अन्तिम कड़ी में प्रस्तुत है उनकी अमेरिका के पूर्व दो बार बम्बई निवास के दौरान हुई घटनाओं का संकलन। – सं.)

मुम्बई में दूसरी बार

सम्भवत: नवम्बर (१८९२) के दूसरे सप्ताह में स्वामीजी ने गोवा से विदा ली और धारवाड़, बंगलोर, मैसूर, त्रिचुर, कोडंगलूर आदि होते हुए दिसम्बर के प्रारम्भ में एर्णाकुलम पहुँचे। फिर त्रिवेन्द्रम और कन्याकुमारी में कुछ काल बिताकर वर्ष के अन्त में रामेश्वर पहुँचकर उन्होंने महादेव के दर्शन का अपना संकल्प पूरा किया। नव वर्ष के प्रारम्भ में वे पाण्डीचेरी होते हुए चेन्नै (मद्रास) आये, जहाँ उन्होंने लगभग तीन माह बिताए और बीच में एक बार वे हैदराबाद भी हो आये।

चेन्नै में स्वामीजी के युवा शिष्य उनकी अमेरिका यात्रा के लिए अर्थ-संग्रह तथा अन्य प्रकार की तैयारियों में लगे हुए थे। उन्हीं दिनों अप्रैल (१८९३) के द्वितीय सप्ताह में एक दिन सहसा खेतड़ी-नरेश के सचिव मुंशी जगमोहनलाल वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने स्वामीजी को महाराजा का अनुरोध कह सुनाया कि एक बार वे खेतड़ी आकर राजकुमार के जन्मोत्सव में भाग लें तथा राज्य के भावी उत्तराधिकारी को आशीर्वाद दे जायँ। स्वामीजी ने बताया कि ३१ मई को उनकी यात्रा की तिथि निर्धारित हो चुकी है और वे उसी के प्रबन्ध में लगे हैं, अत: ऐसी हालत में उनका खेतड़ी जाना भला कैसे सम्भव हो सकता है। जगमोहनलाल ने कहा कि यदि वे एक दिन के लिए भी खेतड़ी गये, तो उनके शिष्य महाराजा की हार्दिक मनोकामना पूर्ण हो जायेगी और जहाँ तक उनकी अमेरिका-यात्रा का प्रश्न है, उसकी व्यवस्था का उत्तरदायित्व वे महाराजा पर छोड़ दें। इस प्रकार सुदीर्घ चर्चा के उपरान्त स्वामीजी ने स्वीकृति दी और उनका मुम्बई से यात्रा करना निश्चित हुआ।

स्वामीजी अपने प्रिय शिष्य से मिलने मुन्शीजी के साथ खेतड़ी की ओर रवाना हुए। मार्ग में कुछ दिनों के लिए वे मुम्बई में भी ठहरे। इस बार सम्भवत: वे महामहोपध्याय राजाराम शास्त्री बोडस के निवास-स्थान पर ठहरे थे जैसा कि आगे वर्णित घटना से अनुमान होता है।

स्वामीजी के दो अन्य गुरुभ्राता स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी तुरीयानन्द काँगड़ा, पठानकोट, गुजराँवाला, लाहौर आदि स्थानों का भ्रमण करते हुए कराची और वहाँ से जलयान द्वारा मुम्बई पहुँचे। श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान गृही शिष्य श्री कालीपद घोष कागज व्यवसायी जाँन डिकिन्सन कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में मुम्बई में ही निवास करते थे। दोनों गुरुभ्राता उनके परेल रोड स्थित निवासस्थान पर गये। वहाँ उन्हें पता चला कि स्वामीजी भी सम्प्रति मुम्बई में ही हैं और एक स्थानीय सुप्रसिद्ध पण्डित के घर ठहरे हुए हैं। स्वामी तुरीयानन्दजी बँगला जीवनी के अनुसार – एक दिन दोनों गुरुभ्राता स्वामीजी से मिलने वहीं जा पहुँचे। स्वामीजी उस समय एक साधारण-सा हुक्का लिए धुम्रपान कर रहे थे। गुरुभ्राताओं को देखते ही वे हुक्का हाथ में लिए ही दौड़ते हुए उनके पास आ गये और अन्तरंगतापूर्वक बाते करने लगे। उस समय उनके ओठों पर यह श्लोक था –

अभिमानं सुरापानं गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा तस्मात् एतत्त्रयं त्यजेत्।।[१]

श्लोक सुनकर तुरीयानन्द जी को यह निश्चित धारणा हुई कि स्वामीजी इन तीनों दोषों से मुक्त हो चुके हैं। कुछ देर बाद उन्होंने कहा, "हरि भाई, अब इस घर में और नहीं रहूँगा। यहाँ के लोग तुम लोगों को उतनी श्रद्धा से नहीं देख सकेंगे। ये उपाधिधारी बड़े पण्डित हैं। चलो, अमुक के घर चलें, वह हम सबको बड़े प्रेम से रखेगा।" इसके बाद तीनों गुरुभाई एक साथ कालीपद घोष के घर चले गये। वहाँ उन्होंने एक साथ रहते हुए कई दिन परम आह्लादपूर्वक बिताए। कालीपद बाबू ने एक दिन अपने गुरुभाईयों को मोटर में बैठाकर नगर का परिदर्शन भी कराया था।

स्वामीजी के इस मुम्बई अवस्थान के दौरान प्रतिदिन सन्ध्या के समय बहुत से लोगों का उनके पास समागम हुआ करता था। स्वामीजी भी समागत लोगों के साथ धर्मचर्चा किया करते थे। एक दिन अस्वस्थता के कारण उन्होंने हरि महाराज से कहा, "आज मेरी तबीयत अच्छी नहीं है, तुम्हीं इन लोगों को कुछ बताओ। मैं लेटे-लेटे सुनूँगा।" इच्छा न होने पर भी हरि महाराज गुरुभाई का सप्रेम आग्रह नहीं टाल सके और बाध्य होकर उपस्थित लोगों के समक्ष उन्होंने धर्मचर्चा की। बोलते-बोलते भाव के तरंग में वे त्याग-वैराग्य विषयक बहुत-सी बातें कह गये। प्रवचन सुनकर लोगों के चले जाने के बाद स्वामीजी ने उनसे कहा, "इन संसारासक्त लोगों को तुमने इतने कठोर त्याग एवं तीव्र वैराग्य की बातें क्यों सुनाई? यह ठीक है कि तुम तपस्वी संन्यासी हो, परन्तु सुननेवाले तो सब गृहस्थ थे। उन्हीं के उपयुक्त तुम्हें कुछ बोलना चाहिए था। तुम्हारी बातें सुनकर ये लोग घबड़ा जाएँगे, विचलित हो जाएँगे। लोग जो समझ-बूझ पाते, वही बोलना अच्छा होता।"

---

१. (भावार्थ) – अहंकार सुरापान के समान है, गौरव की कामना रौरव-नरक मे निवास के सदृश है, प्रतिष्ठा को शूकरीविष्ठा के समान घृणित मानो और इस कारण इन तीनो को त्याग देना चाहिए।

इस प्रकार स्वामीजी ने उन्हें हल्की-सी झिड़की दी और इस पर हरि महाराज हँसते हुए बोले, "मेरे मन में आया कि चूँकि तुम भी सुन रहे हो, इसलिए जो सो बोलना नहीं चलेगा। ज्यादा अच्छा बोलने प्रयास में ही ऐसी गड़बड़ी हो गई।"

मुम्बई में ही स्वामीजी ने एक दिन तुरीयानन्द से कहा, "हरिभाई, इतनी तपस्या आदि करके भी अब तक मैं समझ नहीं सका कि धर्म वगैरह क्या चीज है; पर भारतवर्ष का भ्रमण करके अब देखता हूँ कि मेरा हृदय काफी विशाल हो गया है। देश के दीन-दुखियों के लिए मेरे प्राण रो रहे हैं। मुझे सबके प्रति बड़ी संवेदना का अनुभव हो रहा है। इसीलिए मैं अमेरिका जा रहा हूँ। देखूँ, इन लोगों के लिए वहाँ पर मैं क्या कर पाता हूँ।"

स्वामी तुरीयानन्द ने बताया था, "अमेरिका जाने के पूर्व स्वामीजी का तेजस्वी मुखमण्डल देखकर लगा था कि वे अपनी साधना पूरी कर चुके हैं और जगत् को अपने गुरुदेव का सन्देश सुनाने जा रहे हैं।" एक अन्य दिन स्वामीजी ने कहा था, "हरि भाई मैं अमेरिका जा रहा हूँ। वहाँ जो कुछ हो रहा है, सब (सीने पर हाथ रखकर) इसी के लिए हो रहा है।" स्वामी तुरीयानन्द अपने तप:सिद्ध गुरुभ्राता की बात सुनकर विस्मित रह गये।

प्रस्थान के पूर्व

मुम्बई में कुछ दिन बिताने के बाद स्वामीजी मुन्शी जगमोहन लाल तथा गुरुभाइयों के साथ राजस्थान की ओर चल पड़े। उनके दोनों गुरुभ्राता आबू रोड में उतरकर तपस्या करने चले गये और स्वामीजी जगमोहन लाल के साथ २१ अप्रैल को खेतड़ी पहुँचे। स्वामीजी ने वहाँ तीन सप्ताह रहकर समारोह में भाग लिया और अपने प्रिय शिष्य राजा अजीतसिंह के साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा करते रहे। महाराजा के आदेश पर मुंशी जगमोहन लाल स्वामीजी को साथ लिए रवाना हुए।

वे लोग १८ मई के आसपास मुम्बई पहुँचे। स्वामीजी ने खेतड़ी से ही अपने मद्रासी शिष्यों को सूचना दे दी थी कि वे ३१ मई को मुम्बई से जहाज पकड़ेंगे। और उनके मुम्बई पहुँचने के पहले ही मद्रास से आलासिंगा पेरुमल पश्चिम के लिए उन्हें विदा करने वहाँ आ चुके थे। अत: जब वे जगमोहनलाल के साथ स्टेशन पर उतरे तो आलासिंगा उनका स्वागत करने को वहाँ उपस्थित थे।

इस बार वे मुम्बई में कहाँ ठहरे थे इस विषय में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। जहाज छूटने में अभी १०-१२ दिनों की देर थी, अत: यह समय उन्होंने यात्रा की तैयारी के अतिरिक्त पूर्वपरिचितों से मिलने, धर्मचर्चा तथा ध्यानमें बिताये। वहीं से २२ मई को स्वामीजी अपने एक पत्र में लिखते हैं – "कुछ दिन हुए मुम्बई पहुँच गया और थोड़े ही दिनों में यहाँ से रवाना होऊँगा। ... किसी तरह मुझे एक अच्छी हवादार जगह मिल गई है।" हाल ही में आविष्कृत मुम्बई से २२ मई को खेतड़ीनरेश के नाम अपने पत्र में वे लिखते हैं, "मुम्बई में मैं अपने बैरिस्टर मित्र रामदास से मिलने गया था। वे एक भावुक व्यक्ति हैं। ... ३१ तारीख को उनके पिताजी का शिकागो जाने का विचार है। यदि ऐसा हुआ तो हम दोनों एक साथ ही यात्रा करेंगे। आज मैं लोहे का सन्दूक आदि खरीदने जा रहा हूँ और मद्रास से आनेवाले धन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। वैसे मैंने उन्हें जयपुर से तार भेज दिया था, तथापि उन्हें थोड़ा सन्देह था और वे लोग मेरे अगले सन्देश का इन्तजार कर रहे थे। मैंने उन्हें पुन: तार भेजा है, पत्र भी लिखा है।"

मुम्बई से स्वामीजी ने अपने उपरोक्त दोनों गुरुभाइयों के नाम भी एक आवेगपूर्ण पत्र लिखा, जिसका उल्लेख करते हुए स्वामी ब्रह्मानन्द ने बताया था, "स्वामीजी ने अमेरिका जाने के पूर्व मुझे तथा हरिभाई को माउण्ट आबू में जो पत्र लिखा था उसकी ये बाते अब भी मेरे मन में कौंध रही हैं। हरिभाई भी प्राय: ही उनका प्रसंग उठाया करते थे। वे बातें इस प्रकार थी – '**जगद्धिताय बहुजनसुखाय** ही धर्म है और अपने लिए जो कुछ किया जाय, वह सब अधर्म है।' ओह! सोचो तो जरा, कितनी अद्भुत बात है। इस बात क्या कोई मोल हो सकता है?" इन्हीं दिनों लिखे स्वामीजी के और भी दो पत्र मिलते हैं – एक मद्रास के बालाजी राव के नाम तथा दूसरा बेलगाँव की श्रीमती इन्दुमती मित्र के नाम।

खेतड़ी के महाराजा ने जगमोहनलाल को स्वामीजी की यात्रा की सारी व्यवस्था करने का निर्देश देकर साथ भेजा था। अत: एक दिन वे स्वामीजी को लेकर बाजार गये और उनकी आवश्यकता की सारी चीजें खरीदने लगे। जब स्वामीजी ने देखा कि व्याख्यान के समय पहनने हेतु उनके लिए महँगे रेशमी लबादे तथा पगड़ी की व्यवस्था हो रही है, तो इस पर विरोध प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि एक साधारण-सा वस्त्र ही यथेष्ट होगा। परन्तु मुंशीजी भला कहाँ सुननेवाले थे! वे चाहते थे कि महाराजा के गुरु भी महाराजा के समान ही यात्रा करें। अपने शिष्यों के स्नेह एवं सद्भावपूर्ण हठ के सामने स्वामीजी की एक न चली और उन्हें यथेष्ट धनराशि भी दी गई और जापान जानेवाले पी. एण्ड ओ. कम्पनी के पेनिन्सुलर जहाज पर उनके लिए प्रथम श्रेणी के एक स्थान का आरक्षण करा दिया गया।

भगिनी देवमाता ने श्री आलासिंगा पेरुमल से सुनकर इस काल की कुछ बातें अपनी पुस्तक 'Ramakrishna and his disciples' (रामकृष्ण और उनके शिष्य) में संकलित की है। आलासिगा ने बताया था – "मुम्बई में हम लोग उनके साथ थे। हमने कहा, 'स्वामीजी, आप अमेरिका जा रहे हैं, वहाँ समय का बड़ा महत्त्व है; अत: आपके पास एक घड़ी होनी

चाहिए।' उन्होंने तुरन्त कहा, 'ठीक है, मेरे लिए एक खरीद दो।' हमने कहा, आपके पास कुछ परिचय-कार्ड होने चाहिए।' वे बोले, 'ठीक है, एक सौ छपवा लो।' उन दिनों वे (विशेषकर मद्रास में) सच्चिदानन्द के नाम से सुपरिचित थे, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'कार्डों पर क्या नाम डालूँ?' तो उन्होंने कहा, 'स्वामी विवेकानन्द'।''

३१ मई के दिन स्वामीजी को जहाज में बैठाने मुंशी जगमोहन लाल, आलासिंगा पेरुमल तथा मुम्बई के ही कुछ अन्य लोग बन्दरगाह पर गये थे। जहाज पर चढ़ने के बाद स्वामीजी की अवस्था का किंचित् विवरण आलासिंगा से ही सुनकर श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी बँगला पुस्तक में इस प्रकार लिखा है – ''स्वामीजी अब गैरिकवसनधारी तथा नग्नपद (परिव्राजक) न थे; उन्होंने जूते, ट्राउजर और एक लम्बा कोट पहन रखा था। अब वे एक अलग ही व्यक्ति दीख रहे थे। उनके मुखमण्डल से एक अलग ही भाव झलक रहा था। स्वामीजी उन्मने-से जहाज के डेक पर टहल रहे थे; और उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष कभी भारतवर्ष, तो कभी अमेरिका का चित्र झलक उठता था। कभी वे धीरे-धीरे टहलते, तो कभी स्थिर खड़े हो जाते, ... परन्तु वे किसी से बातें नहीं कर रहे थे। मुंशीजी जगमोहन लाल ने पहले उन्हें संन्यासी के ही वेश में देखा था, परन्तु अब वे स्वामीजी को एक अलग ही वेश में देख रहे थे। अंग्रेजों के साथ मेलजोल रखने के कारण मुंशीजी के मन में अपने बारे में ऐसी धारणा थी कि वे ट्राउजर, बूट आदि पहनने का तरीका भलीभाँति जानते हैं; इस कारण वे स्वामीजी को सावधान करते हुए उन्हें ट्राउजर पहनने की विधि समझाने लगे। स्वामीजी के ट्राउजर का निचला हिस्सा एड़ी के पास जूतों से लग रहा था। मुंशीजी की धारणा थी कि ट्राउजर जूतों से दो-तीन अँगुल ऊपर होना चाहिए, नहीं तो अन्दर के मोजे नहीं दीख पड़ते। अत: वे स्वामीजी को सावधान करने लगे, 'स्वामीजी, ट्राउजर एड़ी से लग रहा है, थोड़ा ऊँचा करके पहनिये।' परन्तु स्वामीजी अपने भाव में तन्मय (डेक पर) चहलकदमी करते रहे, इस बात की ओर उनका ध्यान नहीं गया। मुंशीजी के बारम्बार कहने पर उनके कानों में यह बात पड़ी और तब उन्हें थोड़ा होश आया। स्वामीजी ने पहले पाँवों का निरीक्षण किया और फिर तीक्ष्ण दृष्टि से जगमोहन लाल की ओर देखते हुए बोले, 'मैं बचपन से ही ऐसे पोषाक पहनने का अभ्यस्त हूँ, मुझे इस विषय में ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं'।''

इसके अतिरिक्त जहाज पर हुई एक अन्य घटना का विवरण भी मिलता है। मराठी ग्रन्थमामला मासिक में प्रकाशित श्री श्रीनिवास अयंगार सेटलुर द्वारा कोल्हापुर में प्रदत्त २४ अगस्त १९०२ ई. के व्याख्यान में, जो सम्भवत: स्वयं भी उस समय वहाँ उपस्थित थे, वक्ता ने बताया था –

''जहाज पर चढ़ने के समय स्वामीजी के नवीन शिष्यों में से एक ने पूछा, 'महाराज, आप परदेश में हिन्दू धर्म के विषय में बोलने जा रहे हैं, तो साथ में कुछ पुस्तकें आदि नहीं ले जा रहे हैं क्या? और कुछ नहीं तो यह पुस्तक लेते जाइए।' ऐसा कहते हुए उसने श्री मध्वाचार्य की 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थ की एक प्रति अपनी जेब से निकाली। इस पर स्वामीजी उस पुस्तक के कुछ अंश एक-एक कर अपनी स्मृति से ही बताने लगे। स्वामीजी की बुद्धि तीव्र तथा स्मरण-शक्ति अच्छी थी। ... सर्वदर्शनसंग्रह के विषय में ऐसी बात देखने के बाद उस शिष्य ने दुबारा पुस्तक साथ ले जाने की बात नहीं उठाई।''

जहाज छूटने का समय हो जाने तक स्वामीजी को छोड़ने आये अनुरागी शिष्य तथा मित्रगण उनके साथ ही रहकर उनसे वार्तालाप करते रहे। छूटने की सूचना देते हुए जब जहाज का भोंपू बजा, तो सबके हृदय स्वामीजी से दीर्घकाल के लिए बिछुड़ने की कल्पना से व्यथित हो उठे। नेत्र डबडबा आये। सबने हार्दिक श्रद्धा एवं प्रीति के साथ उन्हें प्रणाम

पुरखों की थाती (२)

अयं निज: परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

– वह व्यक्ति अपना है या पराया – ऐसा विचार संकीर्ण चित्त के लोग ही किया करते हैं; परन्तु उदार चरित्रवालों की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व ही एक परिवार है।

अति परिचयादवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति।
मलये भिल्लपुरन्ध्री चन्दनतरुकाष्ठमिन्धनं कुरुते।।

– अत्यधिक मेलजोल से अनादर का भाव आ जाता है, बारम्बार किसी के पास जाने से अपमान होने लगता है; उदाहरणार्थ मलय पर्वत पर चन्दन-वृक्षों की बहुतायत होने के कारण आदिवासी भीलनी उसी की लकड़ी को काटकर भोजन पकाने के लिए उपयोग में लाती है।

अमृतं किरति हिमांशु: विषमेव फणी समुद्गिरति।
गुणमेव वक्ति साधु: दोषमसाधु: प्रकाशयति ।।

– जैसे चन्द्रमा अमृत ही बरसाता है और नाग विष ही उगलता है; वैसे ही सज्जन व्यक्ति सबके गुणों का ही वर्णन करते हैं, जबकि असाधु लोग सबके दोषों को ही उजागर करते रहते हैं।

किया और उनकी चरणधूलि मस्तक पर धारणकर नीचे उतर आये। जलयान मुम्बई से चल पड़ा।

स्वामीजी की उस समय की मन:स्थिति का वर्णन करते हुए स्वामी निखिलानन्द अपनी 'विवेकानन्द – एक जीवनी' में लिखते हैं – "आइए, अब हम कल्पना चक्षुओं से देखें कि किस प्रकार स्वामीजी डेक पर खड़े, रेलिंग का सहारा लिए अपनी मातृभूमि की तेजी से अदृश्य हो रही दृश्यावली को निहार रहे हैं। उस समय कितनी ही कल्पनाएँ उनके मानस-पटल से होकर गुजरी होंगी; उन्हें श्री रामकृष्ण, माँ सारदा और वराहनगर मठ में रहनेवाले तथा वनों-पर्वतों में तपस्यारत अपने गुरुभाइयों की याद आई होगी। उन्तीस वर्षों की आयुवाला यह युवक अपने साथ कितनी ही स्मृतियों का बोझ लिए भारतभूमि से विदा ले रहा था। अपने महान् पूर्वजो की विरासत, गुरुदेव का आशीर्वाद, हिन्दू शास्त्रों का ज्ञान, पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान, अपनी स्वयं की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, भारतवर्ष का अतीव गौरव, उसकी वर्तमान दुरवस्था, उसकी भावी महिमा का आभास, उष्ण-कटिबन्धीय तेज धूप के बीच खेतों में श्रमरत करोड़ों भारतवासियों की आशा-आकांक्षाएँ, पुराणों की भक्तिपूरित कथाएँ, बौद्ध-दर्शन की असीम बुलंदियाँ, वेदान्त का इन्द्रियातीत सत्य, भारतीय दर्शन की सूक्ष्मता, सन्त-कवियों के प्राणस्पर्शी भजन, अजन्ता-एलोरा के प्रस्तर-शिल्प तथा मूर्तिकला, राजपूत एवं मराठा योद्धाओं की वीरगाथाएँ, दक्षिण के आलवार भक्तों के स्तोत्र, उत्तुंग हिमालय की तुषारमण्डित गिरिशृंखलाएँ, गंगा की कलकल ध्वनि – इन सबने तथा और भी अनेक विचारों ने मिलकर स्वामीजी के मानस-पटल पर भारतमाता का कल्पना चित्र आँका होगा; उस भारतभूमि को जो अपने आप में ही एक विश्व है, जिसका इतिहास तथा समाज उसे 'बहुत्व में एकत्व' के दार्शनिक सिद्धान्त का जीवन्त निदर्शन है; और भारतमाता भी विश्व-धर्ममहासभा में अपना प्रतिनिधित्व करने को क्या विवेकानन्द से भी योग्य किसी पुत्र को भेज सकती थीं?"

इस प्रकार स्वामीजी महाराष्ट्र के समुद्रतट से विदा हुए। उनके परिव्राजक जीवन की यहीं समाप्ति हुई। अपने इस महाराष्ट्र-प्रवास के दौरान उन्होंने बहुत कुछ देखा, सीखा और अनुभव बटोरे, जो उनके युगनायक धर्माचार्य के रूप में प्रारम्भ होनेवाले भावी जीवन में अतीव मूल्यवान सिद्ध हुए।

(समाप्त)

आचार्य रामानुज (२५)

स्वामी रामकृष्णानन्द

धनुर्दास

आज श्रीरंगम में गरुड़-महोत्सव है। विभिन्न स्थानों से हजारों नर-नारी भगवान का दर्शन करने की इच्छा से वहाँ आये हैं। सभी मन्दिर के विशाल द्वार पर खड़े होकर गरुड़ के कन्धों पर आसीन श्रीरंगनाथ स्वामी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। नगाड़ों तथा भेरी की आवाज दिग्दिगन्त में शेषशायी नारायण के जय की घोषणा कर रही है। सब लोग उत्सुकतापूर्वक मन्दिर के भीतर स्थित विशाल प्रांगण की ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। उसी समय कतारबद्ध सैकड़ों ब्राह्मण-कण्ठों से परम पवित्र द्रविड़ वेद की ध्वनि उठने लगी। इसे सुनकर सारा कोलाहल पूरी तौर से शान्त हो गया। वेदपाठकगण भीतरी प्रांगण से मन्दिर के द्वार की ओर अग्रसर होने लगे। बाँस के दो टुकड़ों पर टँगा हुआ शंख-चक्र-तिलक से अंकित एक लाल पट उनके आगे-आगे लाया जा रहा था। गोमुख से निःसृत जाह्नवी-ध्वनि के समान वह परम पावन वेदध्वनि, वहाँ समवेत समस्त लोगों के सारे सन्ताप हरते हुए, उन्हें श्रुति-मन्दाकिनी में स्नान कराकर देवतुल्य कर रही थी। पृथ्वी उस समय स्वर्ग के समान सौभाग्यशालिनी हो उठी थी।

द्रविड़ वेदपाठियों द्वारा मन्दिर का द्वार पार करके राजपथ पर पहुँचने पर, बृहत् ऊर्ध्वपूण्ड्र अंकित तथा विविध साजों से सज्जित कुछ विशाल हाथी भी अपने विशाल सूड़ों को हिलाते मन्थर गति से उनके पीछे चलने लगे। तत्पश्चात् अनेक बड़े-बड़े सींगों तथा कूबरों से युक्त, पीठ पर दो-दो ढोलों से सज्जित तथा रक्षकों द्वारा परिचालित बैलों की पाँत चल रही थी। उनके पीछे सुसज्जित घोड़ों पर बँधे दो-दो ढक्काओं को बजाते हुए अश्वारोहियों का दल द्वार से बाहर आया। और उनके पीछे वाद्ययन्त्रों के साथ उच्च तथा मधुर स्वर में हरिनाम-संकीर्तन करती और सबको मुग्ध करती हुई भक्तों की मण्डली राजमार्ग की ओर अग्रसर होने लगी। उनके राजमार्ग में प्रविष्ट होने के बाद जब गरुड़ के कन्धों पर आसीन, देवदासियों द्वारा वन्दित, अर्चकों से घिरे लक्ष्मीसह श्रीमन्नारायण सैकड़ों भक्तों द्वारा वाहित होकर जनता के दृष्टिपथ पर गोचर हुए, तब आनन्दविह्वल नर-नारियों ने तालियाँ बजाकर जयघोष करते हुए दिग्दिगन्त को निनादित कर डाला। श्री भगवान को द्वार के सामने स्थित मण्डप में कुछ काल विश्राम कराया गया। उनके पीछे-पीछे पंक्तिबद्ध अनेक ब्राह्मण उच्च गम्भीर स्वर में ऋषिप्रसूत संस्कृत वेदपाठ करते हुए धीरे-धीरे आने लगे। नारायण के मण्डप में आसीन हो जाने के बाद सभी ठहर गये। सैकड़ों भक्त विविध प्रकार के उपचारों एवं उपहारों के साथ भगवान की पूजा करने लगे। कोई नारियल फोड़कर उससे नारायण को दृष्टिभोग देने लगे, तो कोई उन्हें केलों के गुच्छे निवेदित करने लगे और कोई-कोई कपूर जलाकर उसके द्वारा श्रीहरि की आरती करने लगे। कुछ समय बाद श्री भगवान ने मण्डप में प्रस्थान किया और शंख-चक्र-तिलकांकित लाल पट से लेकर साम-यजुर्वेद-पाठियों तक की समस्त जनता एक महास्रोत के समान अग्रसर होने लगी। राजपथ पर तिल रखने को स्थान खाली नहीं बचा। सबकी दृष्टि गरुड़ के कन्धों पर आसीन लक्ष्मीसह नारायण पर ही टिकी हुई थी।

ब्रह्माण्डपति के सदलबल राजमार्ग पर पहुँचकर शनैः शनैः चल पड़ने पर मार्ग के दोनों ओर स्थित अट्टालिकाओं के बरामदे से नगर की ललनाएँ पुष्प-कपूर-फल-ताम्बूल युक्त नैवेद्य भगवान की पूजा के उद्देश्य से अर्चकों के हाथ में सौंपने लगीं और वे लोग भी वह सब भगवान को निवेदित करके भक्तिमती कुलांगनाओं को प्रसाद देकर भगवत्-चरण-चिह्नित मुकुट का उनके अवनत सिर से स्पर्श कराने लगे। इस विपुल जनसमुदाय में ऐसा कोई भी न था, जो भक्तिगद्गद चित्त से हाथ जोड़कर भगवान के चरणों में दृष्टि न लगाये हो। उस समय एक ऐसा भक्ति-उद्दीपक वातावरण बन गया था कि काल के गुण से अभक्त भी परम भक्तिमान हो गये। यही भाव जनसमुदाय में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा था, परन्तु एक स्थान पर इसके बिल्कुल विपरीत भाव भी देखने में आया।

एक वृषभ-स्कन्ध लम्बी भुजाओंवाला परम बलवान तथा सुन्दर पुरुष एक अन्य ही भाव में विभोर होकर मानो जनप्रवाह से ही आकृष्ट होकर चला जा रहा था। उसके बाएँ हाथ में एक बड़ा छत्र था, पर उससे वह अपने मस्तक को धूप से नहीं बचा रहा था। सामने स्थित एक परम लावण्यमयी, विशाल नेत्रोंवाली, चित्त-विस्मयकारिणी युवती के प्रफुल्ल कुमुदिनी के समान मनोहर मुखमण्डल को कमलिनीनायक सूर्यदेव की प्रखर किरणों से बचाने के लिए ही उसके ऊपर वह छत्र तना हुआ था। उस व्यक्ति के दाहिने हाथ में एक व्यजन भी था। और वह बीच-बीच में उसे डुलाकर युवती का पसीना दूर कर रहा था। उसके मन, प्राण, तथा दृष्टि सब उस ललना पर ही निबद्ध थे। उसे जगत् के अस्तित्व का बोध तक न रह गया था। ऐसा आचरण देखकर लोग क्या कहेंगे, यह विचार उसके मन में एक बार भी नहीं उठा। निकट के लोग यह युगलमूर्ति देखकर बड़ी कानाफूसी करने लगे, परन्तु उस ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। कमल के हृदय का मधुपान करनेवाला भ्रमर आनन्द-सागर में डूबकर जैसे जगत् को भूल

जाता है, वह बलवान युवक भी वैसे ही उस युवती के सौन्दर्य-सागर में डूबकर अपनी सुध-बुध खो बैठा था। अतएव लज्जा, घृणा तथा भय भला उसका कैसे स्पर्श कर पाते?

पतितपावन श्री रामानुज कावेरी में स्नान करने के पश्चात् राजमार्ग पर भगवान का दर्शन-पूजन आदि पूरा करके शिष्यों से घिरे, दाशरथि के कन्धे पर बाँया हाथ रखे अपने मठ की ओर लौट रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि इस अभिनव दृश्य पर जा पड़ी। वे एक शिष्य से बोले, "वत्स, तुम उस निर्लज्ज, निर्घृण्य व्यक्ति को बुलाकर मेरे पास ले आओ ।" उसके पास जाकर शिष्य के बारम्बार पुकारने पर उसकी चेतना लौटी। निद्रा से जगे के समान थोड़ा त्रस्त हो, ब्राह्मण को सम्मुख देख उसने हाथ जोड़कर कहा, "महाशय, दास के प्रति क्या आज्ञा है?" ब्राह्मण बोले, "निकट ही यतिराज खड़े हैं। वे तुम्हारे साथ वार्तालाप करना चाहते हैं। जरा-सा उनके पास चलो।"

यतिराज का नाम सुनकर युवक ने थोड़ी देर के लिए अपनी प्रेयसी से विदा ली और भक्तिपूर्वक ब्राह्मण का अनुसरण किया। क्षण भर बाद ही वह श्री रामानुज के पास जा पहुँचा और उन्हें साष्टांग प्रणाम करके मौन खड़ा हो गया। यतिराज ने उसकी ओर देखते हुए पूछा, "तुम्हें उस युवती के भीतर ऐसा क्या अमृत मिला है कि तुम लज्जा-भय त्यागकर इस विपुल जनसमूह के बीच महाकामुक जैसा आचरण कर सबकी दृष्टि में हास्यास्पद हो रहे हो?" युवक ने उत्तर दिया, "महात्मन्, पृथ्वी पर असंख्य सुन्दर वस्तुएँ विद्यमान हैं, परन्तु उस सुन्दरी के नयनयुगल सर्वापेक्षा सुन्दर हैं। उन दो नेत्रों को देखकर मैं उन्मत्त-सा हो जाता हूँ और उस समय मुझमें निगाह फिराने की सामर्थ्य नहीं रह जाती।" यतिराज ने प्रश्न किया, "ये क्या तुम्हारी विवाहिता पत्नी हैं?" युवक बोला, "नहीं महाशय, विवाहिता न होने पर भी, मैंने निश्चय कर लिया है कि इस जीवन में मैं इनके अतिरिक्त और किसी से प्रेम नहीं करूँगा।" यतिराज – "तुम्हारा नाम-धाम क्या है?" युवक – "मेरा नाम धनुर्दास और निवास निचुलनगर में है। मैं मल्लविद्या में निपुण हूँ और मेरी प्रेयसी का नाम हेमाम्बा है।" इस पर यतिराज बोले, "धनुर्दास, यदि मैं तुम्हें उस युवती के नेत्रों से भी अधिक सुन्दर नेत्र दिखा सकूँ, तो क्या तुम उसे छोड़कर इससे प्रेम कर सकोगे?" युवक ने उत्तर दिया, "महात्मन्, यदि मेरी प्रेयसी से भी अधिक सुन्दर किसी के नेत्र हों, तो फिर मैं निश्चय ही इसे छोड़कर उसी की आराधना करूँगा।" श्री रामानुज ने कहा, "यदि ऐसी बात है, तो आज शाम को मेरे पास आना। मैं तुम्हें इतने सुन्दर नेत्र दिखाऊँगा, जिसकी तुलना त्रिभुवन में नहीं है।" धनुर्दास ने 'जो आज्ञा' कहा और युवती के पास जाकर पूर्ववत् छत्र धारण किये चलने लगा।

संध्या का आगमन हो चुका था। श्री रामानुजाचार्य धनुर्दास को साथ लिये श्री रंगनाथ स्वामी के विशाल द्वार एक-एक कर पार कर रहे थे। इस प्रकार पाँच गोपुरों से होकर वे लोग मूल विग्रह के सम्मुख उपस्थित हुए। अर्चक ने यतिराज को देखकर उनका परम आदरपूर्वक स्वागत किया और कपूर लेकर शान्ताकार, भुजगशयन, जगद्वीज, पद्मनाभ, मेघवर्ण, शुभांग, भवभयहारी, कमलनयन, लक्ष्मीपति नारायण की आरती का आयोजन करने लगे। उस कपूर के आलोक में श्री भगवान के पद्मपलाश सदृश विशाल नेत्र व्यक्त होकर भक्तों के चित्त में परम आनन्द का विस्तार करने लगे। यतिराज के निकट खड़ा धनुर्दास उनका माधुर्य देखकर अपने नयन फेर नहीं सका, प्रेमाश्रु की अविरल धारा बहाते हुए वह आनन्द की पराकाष्ठा का अनुभव करने लगा। सूर्योदय होने पर तारामण्डल के समान हेमाम्बा की नयनमाधुरी उसके चित्ताकाश से पूर्णतः विलुप्त हो गयी। कुछ काल तक इसी प्रकार परम निवृत्ति-सागर में निमग्न रहने के बाद धीरे-धीरे उसकी चेतना लौटी।

अपने पास ही यतिराज को पाकर उनके चरणों का आश्रय लेते हुए वह बोला, "महाभाग, आज आपने अपनी परम कृपालुतावश इस कामपरायण पशु को जिस देवदुर्लभ आनन्द का भागीदार बनाया है, उसके लिए यह चिरकाल तक आपका क्रीतदास बना रहेगा। मैं अब तक महासागर को तुच्छ मानकर कूपमण्डूक के समान कुँए का ही परम आदर करता रहा; भगवान अंशुमाली की ओर आकृष्ट न होकर निशाचर उल्लू के समान जुगनू के रूप पर ही मुग्ध था। अहो, मेरे समान हीनबुद्धि जगत् में क्या कोई दूसरा भी है? मेरे समान वज्रमूर्ख का अन्धकार नाश करना आपके समान महापुरुष के लिये ही सम्भव था। आज से आप मुझे अपना चिरदास समझिये।"

अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित चरणों मे पड़े धनुर्दास को पतितपावन श्री रामानुज ने उठाकर स्नेहपूर्वक दृढ़ आलिंगन किया और चिरकाल के लिये उसके त्रिविध ताप का हरण कर लिया। लम्पट व्यक्ति को देवत्व की प्राप्ति हुई। स्वाधीन होने पर भी हेमाम्बा धनुर्दास के प्रति पति के समान ही भक्ति करती थी। यतिराज की कृपा से प्रियतम को दिव्यदृष्टि प्राप्त होने का संवाद पाकर उसके आनन्द की सीमा न रही। वह भी इन्द्रिय-लालसा को त्यागकर श्री रामानुज की शरणागत हुई। अपार करुणासागर आश्रितों के दुखहर यतिराज ने उस पर भी कृपा करके उसे मोहान्धकार से मुक्त किया तथा दोनों को काम-बन्धन से मुक्तकर प्रीति-बन्धन में आबद्ध कर दिया। पति-पत्नी के समान एक साथ निवास करने के बावजूद काम कभी उनके चित्त को स्पर्श नहीं कर सका। निचुलनगर से विदा लेकर वे श्रीरंगम आ गये और निकट ही एक मकान लेकर यतिराज के सान्निध्य में निवास करने लगे।

धनुर्दास पर श्री रामानुज का स्नेह दिनो-दिन बढ़ने लगा। उनकी गुरुभक्ति, वैराग्य, विनय, सरलता, मधुरभाषिता आदि अनेक गुणों के कारण तथा यतिराज के परम कृपापात्र समझकर

श्रीरंगम के सभी लोग उनके तथा उनकी प्रेयसी के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। श्री रामानुज प्रतिदिन स्नान को जाते समय दाशरथि का हाथ पकड़कर चलते थे, तथापि धनुर्दास के देवतुल्य गुणों का उत्कर्ष दिखाने के लिये स्नान के पश्चात् लौटते हुए वे उन्हीं का हाथ पकड़े हुए अपने मठ को आया करते थे। इस पर उनके ब्राह्मण शिष्यगण बड़े दुखी होते और किसी-किसी ने उनके इस अनुचित आचरण के लिए दो-एक बातें कह भी दी थीं। वे इसका कोई उत्तर न देकर मौन रह जाते। एक रात मठ में सबके सो जाने पर यतिराज ने रस्सी के ऊपर फैलाये हुए हर शिष्य के वस्त्र में से कौपीन के लिए उपयुक्त अंश फाड़ लिया। सुबह शिष्यों ने बिस्तर से उठकर अपने अपने वस्त्र की दुर्दशा देखी और एक-दूसरे के प्रति ऐसे दुर्वचन का प्रयोग करने लगे, जिसे सुनकर अन्य लोग भी लज्जित हो जाते। एक प्रहर तक इसी प्रकार झगड़ा चलने के बाद श्री रामानुज ने बीच-बचाव करके उन्हें शान्त किया।

उसी रात वे अपने शिष्यों से बोले, "देखो, आज धनुर्दास को बातों में फँसाकर मैं काफी देर तक अपने पास बैठाये रहूँगा। इसी बीच तुम लोग उसकी सोयी हुई प्रेयसी के अंग से चुपचाप सारे आभूषण निकाल लाना। देखें इससे धनुर्दास एवं उसकी प्रेयसी के मन में कोई विकार पैदा होता है या नहीं।" गुरु के आदेश पर शिष्यों ने गहरी रात को धनुर्दास के घर के पास जाकर पाया कि उनकी प्रणयिनी गाढ़ी निद्रा में मग्न है।

पति के आगमन की प्रतीक्षा में हेमाम्बा ने द्वार को भीतर से साँकल लगाकर बन्द नहीं किया था। अतः ब्राह्मण-शिष्यों ने सहज ही घर के भीतर प्रवेश किया। उसे प्रगाढ़ निद्रा में अभिभूत देखकर इन लोगों ने बड़ी सतर्कता के साथ उसके अंगों से आभूषण खोलना आरम्भ किया। हेमाम्बा समझ गयी, परन्तु यह सोचकर स्थिर पड़ी रही कि कहीं हिलने-डुलने से ब्राह्मणवृन्द डरकर भाग न जायँ। एक ओर के अलंकार खुल जाने के बाद दूसरी तरफ के अलंकार उन्हें देने के लिए हेमाम्बा ने निद्राभिभूत के समान छलपूर्वक करवट बदला। इस पर ब्रह्मगण भयभीत होकर एक तरफ के अलंकार लेकर ही भाग आये और श्री रामानुज के पास आकर उन्हें एकान्त में आद्योपान्त सब कह सुनाया।

यतिराज ने तब धनुर्दास को निकट बुलाकर कहा, "वत्स, रात बहुत हो गयी, अब घर लौट जाओ।" मल्लवर ने जब 'यथाज्ञा भगवन्' – कहकर अपने घर की ओर प्रस्थान किया, तो यतिराज ने अपने चोरी करनेवाले शिष्यों से कहा, "तुम लोग उसके पीछे-पीछे जाओ और उनके बीच जो बातचीत होती है, उसे सुनकर आओ।" शिष्यों ने ऐसा ही किया। धनुर्दास ने घर के भीतर प्रवेश करने के बाद उसकी ऐसी अवस्था देखकर कहा, "यह क्या, तुम्हारे एक तरफ के आभूषण कहाँ है?" हेमाम्बा बोली, "प्रभो, कुछ ब्राह्मण निर्धनतावश चोर्यवृत्ति का अवलम्बन करके मेरे बहुमूल्य आभूषण चुरा कर ले गये हैं। मैं उस समय बिस्तर पर लेटी मन-ही-मन भगवन्नाम का जप करते हुए आपकी प्रतीक्षा कर रही थी। उन लोगों ने मुझे निद्रित समझकर धीरे-धीरे मेरे एक तरफ के आभूषण उतार लिये और दूसरी तरफ के भी देने के लिये मैंने उसी अवस्था में करवट बदली, परन्तु मेरा दुर्भाग्य है कि इससे डरकर वे लोग भाग गये।"

यह सुनकर धनुर्दास के दुःख की सीमा न रही। उन्होंने कहा, "तुमने करवट बदलकर कितना गलत काम किया! तुम्हारा अहंकार अभी भी गया नहीं? मेरी देह, मेरे अलंकार, मैं दान करूँगी – इसी दुर्बुद्धि के चलते आज तुमने इस स्वर्णवहन-रूपी विष्ठाभार से मुक्त होने का स्वर्णिम अवसर खो दिया। यदि श्रीहरि को आत्मसमर्पण कर स्थिर पड़ी रहती, तो फिर वे तुम्हें गहरी निद्रा में समझकर तुम्हारे सारे अलंकार ले पाते। अतएव यदि तुम अपना कल्याण चाहती हो, तो इसी क्षण से 'मैं'-बोध को समूल नष्ट करने के लिए विशेष प्रयत्न में लग जाओ।" हेमाम्बा अपनी भूल समझ गयी और आँसू बहाते हुए बोली, "हे प्रियतम, आशीर्वाद दीजिए कि ऐसा मोह मेरे मन में फिर कभी स्थान न पा सके और मैं फिर कभी अहंकार से अभिभूत न होऊँ।" ब्राह्मणवृन्द इस देवतुल्य दम्पति के निर्मल भाव से अवगत होकर मठ लौटे और श्री रामानुज को सब कह सुनाया। रात बहुत हो गयी थी, अतः उन्होंने लोगों को विश्राम के लिए जाने की अनुमति दे दी।

अगले दिन सुबह जब मठवासी शिष्यगण अपना प्रातःकृत्य समाप्त कर अध्ययन हेतु यतिराज के पास समवेत हुए, तो उन्होंने सबको सम्बोधित करते हुए कहा, "हे शास्त्रविद् ब्राह्मण्याभिमानी पण्डितगण, तुम लोगों ने कल प्रातःकाल अपने अपने वस्त्र फटे देखकर जैसा किया था और पिछली रात धनुर्दास-दम्पति ने अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी जैसा आचरण किया, बताओ इन दोनों में से कौन-सा ब्राह्मणोचित है।" सबने लज्जापूर्वक सिर झुकाये हुए एक स्वर में कहा, "प्रभो, धनुर्दास ने ही ब्राह्मणोचित और हमने अत्यन्त घृण्य आचरण किया है।" यतिराज ने कहा, "अतएव वत्सगण, समझ लेना कि **न जातिः कारणं लोके गुणाः कल्याणहेतव** – जाति नहीं, वरन् गुण ही कल्याण का कारण है, अतः जाति का सारा अभिमान त्यागकर गुणवान होने का प्रयास करो। जाति के अहंकार से बढ़कर मनुष्य का शत्रु दूसरा कोई नहीं हो सकता। पर यदि वह अपनी रक्षा का कारण सिद्ध हो, तो फिर उसके समान मित्र भी जगत् में दूसरा कोई नहीं हो सकता।" उसी दिन से ब्राह्मण-शिष्यों को बोध हो गया, गुरु के सदुपदेश-रूपी आलोक से उनका अज्ञान तिरोहित हुआ।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

— १२५ —

ठाकुर का मत बतलाना इतना सहज नहीं है। मुझे तो लगता है कि सभी धर्ममतों को उत्साहित करने के लिए ही उन्होंने 'जितने मत उतने पथ' कहा है। सभी मतों का स्वयं साधन करके और वे एक ही सत्य तक ले जाते हैं, इसकी अनुभूति करके, तभी उन्होंने पूर्वोक्त मत प्रकट किया है।

पारमार्थिक सत्य एक-अद्वैत है, जिसका निर्देश ब्रह्म, परमात्मा, भगवान आदि अनेक नामों से किया जाता है।

जिन लोगों ने इस सत्य की प्राप्ति कर ली है, उन्होंने उसे अपने संस्कार व रुचि के अनुसार व्यक्त करने का प्रयास करते हुए विशेष नाम दिये हैं। पर कोई भी 'पूर्ण समग्र सत्य' को व्यक्त करने में सफल नहीं हो सका है। 'वे जो हैं, वही हैं' – यह मनोभाव सभी अनुभूतिसम्पन्न लोगों का चरम सिद्धान्त है।

अवस्था-भेद से गौड़पाद का अजातवाद, शंकर का विवर्तवाद, रामानुज का परिणामवाद अथवा शिवाद्वैतवाद सभी सत्य हैं। फिर इनके अतिरिक्त वे **अवाङ्मनसगोचरम्** भी हैं। इन सभी मतवादों के प्रतिष्ठाताओं ने तपस्या की थी तथा भगवान की विशेष कृपा एवं उनका अनुग्रह प्राप्तकर उन्हीं के निर्देशानुसार विभिन्न मतों का प्रचार किया है। उन्हीं को केन्द्र बनाकर सभी मतवाद हैं, परन्तु वे स्वयं वाद-विचार के परे हैं। ऐसा लगता है कि इस सत्य का प्रचार करना ही ठाकुर का मत था।

देहबुद्ध्या तु दासोऽस्मि, जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मतिः ।।

– जब मुझमें देहबोध रहता है, तब मैं आपका दास हूँ; जब जीवबोध रहता है तो मैं आपका अंश हूँ और जब आत्मबोध आता है तब आप और मैं एक हैं – यही मेरी दृढ़ मति है।

इसी को वे उत्तम सिद्धान्त कहा करते थे। **न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्** – ऐसा कोई चर-अचर नहीं है, जो मुझसे रहित हो।' उनके अलावा तो और कुछ है ही नहीं, वे ही तो सब कुछ हैं। उन्हें न देख पाकर ही तो हम अन्य चीजें देखते हैं – पर वे ही सब हैं। नाम-रूप भी तो उन्हीं से और उन्हीं में हैं। तरंग, फेन और बुद्बुद् में जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इससे चाहे तुम्हारा विवर्तवाद रहे या जाय।

इस सत्य का जिसने साक्षात्कार किया है, वह इसे कभी मिथ्या नहीं कह सकता। पर ठाकुर की ऐसी अवस्था भी होती थी, जब वे भावातीत हो जाते थे। तब उनके लिए नाम-रूप का भी अस्तित्व नहीं रह जाता था, वे उसके भी परे चले जाते थे। वह **अवाङ्मनसगोचर** अवस्था है। तब भी वे एक – अद्वैत ही हैं, और कुछ भी नहीं हैं।

वहाँ पर विवर्त कहाँ है और अजात भी कहाँ है। विवर्त, अजात, परिणाम सब उन्हीं में हो रहा है। एकमात्र वे ही सत्य हैं। फिर उन्हीं में से जीव-जगत् हो रहा है। वह भी सत्य हैं, बशर्ते कि उन्हें न भूला जाय। उन्हें भूलकर नाम-रूप देखने पर सब मिथ्या हो जाता है। क्योंकि उनका अस्तित्व नहीं रह जाता। परन्तु यदि उनकी स्मृति रहे तो यह समझा जा सकता है कि लकड़ी का ही ढोलक है और ढोलक की ही लकड़ी है। **मया ततमिदं सर्वम्** – मेरे द्वारा ही सब कुछ व्याप्त है, **मयि सर्वमिदं प्रोतम्**''– सब कुछ मुझमें ही पिरोया हुआ है – आदि का तात्पर्य तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है।

असल बात यह है कि उन्हें देखना होगा। उन्हें देखने पर दूसरा कुछ भी नहीं रह जाता। सब कुछ उन्हीं से व्याप्त प्रतीत होता है। जितना भी गड़बड़ तथा वाद-विवाद है, सब उन्हें न देखने तक ही है। उन्हें देखने पर सारी गड़बड़ी दूर हो जाती है। उन्हें जान लेने पर चिर शान्ति प्राप्त होती है।

अतः ठाकुर का मत यह है कि चाहे जैसे भी हो, उन्हें पाना होगा। 'अद्वैतज्ञान आँचल में बाँधकर जो चाहे करो' – का अर्थ यह है कि एक बार यदि उन्हें पा लो, तो फिर अपनी रुचि के अनुसार किसी भी मत पर चलने में कोई हानि नहीं। उन्हें जान लेने पर मुक्ति अवश्यम्भावी है। तब कोई बन्धन नहीं रह जाता। फिर मृत्यु के बाद अपनी इच्छानुसार तुम नया शरीर ग्रहण कर सकते हो या नहीं भी कर सकते हो।

जो लोग निर्वाण चाहते हैं वे जगत् को स्वप्नवत् मानते हैं। वे निरुपाधिक ब्रह्म में मन को डुबाकर उन्हीं में एकीभूत हो जाते हैं। जो लोग भक्त हैं और भगवान में आसक्त हैं, वे विश्व को प्रभु का ही प्रकाश समझते हैं, उन्हीं की शक्ति का विकास समझते हैं। ये लोग अपने आपको सच्चिदानन्द भगवान के साथ संयुक्त रखते हैं, भगवान के खेल का साथी समझते हैं, खेलने को ही आते हैं और बारम्बार जन्म ग्रहण करने से भी नहीं डरते। वे प्रभु से कुछ भी नहीं माँगते। आत्माराम होकर भगवान से प्रीति करते हैं। निर्वाण देने पर भी नहीं लेते। ❑❑❑

गीता-अध्ययन की भूमिका (१)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों मे व्यस्त जगत् के विचारशील लोगो का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गये एक उद्‌बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमशः प्रकाशित करेंगे। – सं.)

गीता : एक सार्वभौमिक धर्मशास्त्र

मौलिक ग्रन्थ से हम जो तात्पर्य लगाते है, उस अर्थ में गीता एक मौलिक ग्रन्थ नही है, तथापि यह उस तत्त्व का परम मौलिक वक्तव्य है, जिसे एल्डस हक्सले 'शाश्वत दर्शन' कहते हैं। उपनिषदों में पाये जानेवाले प्राचीन दर्शन की परम्परा मे ही गीता भी आती है। यह वेदान्त की मूलभूत शिक्षाओ का संक्षेपण करके उसे एक लोकप्रिय पद्धति से प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि यह इस देश के बहुसंख्य लोगों का धर्मग्रन्थ बन गयी है। गीता का अध्ययन करने से, न केवल उपनिषदो का, अपितु उस दर्शन के नैतिक तात्पर्यो का भी अध्ययन हो जाता है। हमे नैतिक मार्गदर्शन की आवश्यकता है और गीता इसे प्रदान करती है। दिन-प्रतिदिन के जीवन से कोई सम्बन्ध न रखते हुए सर्वोच्च तत्त्व की बाते करनेवाला दर्शन हमारे लिए विशेष उपयोगी नही होगा; इसीलिए वेदान्त के उदात्त नैतिक तात्पर्यो का गीता में विस्तारण किया गया है।

सदाचार के अतिरिक्त गीता में एक अन्य तत्त्व भी है और वह है भक्ति – ईश्वर के प्रति प्रेम। गीता के अनुसार भक्ति सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक भावो की अभिव्यक्ति है। यह प्रारम्भिक अवस्थाओ मे होनेवाले हृदय के खालीपन से नही, बल्कि उसकी परिपूर्णता से उत्पन्न होनेवाला ईश्वर-प्रेम है। यही वह तत्त्व है, जो गीता मे निरूपित भक्त को एक साथ ही निर्भयता तथा सौम्यता की प्रतिमूर्ति बना देता है। इसका बारहवाँ अध्याय साधना के इस मार्ग के द्वारा चरित्र की परिपूर्णता की प्रशंसा में लिखा गया एक सशक्त आख्यान है।

इन समस्त कारणों से गीता को हमारे जीवन मे महत्त्व मिला है और वह महत्त्व दिन-पर-दिन बढ़ता ही जा रहा है। चार्ल्स विल्किन्स द्वारा अनुवादित गीता के आंग्ल अनुवाद की भूमिका मे भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने घोषित किया था कि "जब भारत मे अंग्रेजो का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्‌गम स्मृति मात्र का विषय होकर रह जायेंगे, तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जीवित रहेगे।" जब से ये वाक्य लिखे गये, तभी से गीता पूर्व तथा पश्चिम – दोनों ही जगतों के नर-नारियों के हृदय में अपना चिर-वर्धमान साम्राज्य स्थापित करती जा रही है।

आधुनिक लोगो के मन में जगत् के धर्मग्रन्थों तथा धर्मोपदेशको के विषय में जो उदासीनता का भाव दिखायी पड़ता है तथा प्रायः ही उनके प्रति जो द्वेषभाव प्रकट हो उठता है, वर्तमान विश्व तथा प्राचीन भारत के विचारशील लोगो के मन पर गीता का प्रभाव उसके बिल्कुल विपरीत है। इसके सन्देश की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताओ – इसकी यौक्तिकता और इसकी सार्वभौमिकता मे ही इसकी शक्ति का स्रोत निहित है।

गीता में प्रवेश करने के पूर्व इसकी भूमिका के रूप में कुछ कहना आवश्यक है। आप मे से अधिकांश लोग गीता और हिन्दू शास्त्रो मे इसके स्थान के विषय में कुछ-न-कुछ जानते होंगे। वेदान्त का अध्ययन करते समय जब मैं हिन्दू शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो इससे बेहतर शब्द के अभाव में ही करता हूँ। क्योकि हिन्दू, बौद्ध, ईसाई या मुस्लिम आदि किसी भी धर्म का उद्‌भव होने के काफी पूर्व ही इन शास्त्रों तथा दर्शनो का विकास हो चुका था। तब इन भेदों का अस्तित्व ही नही था। महान् ऋषियो ने बिना किसी भेद-भाव के अपनी धर्म-विषयक धारणाओं का विस्तार किया। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखना आवश्यक है। आज हिन्दू शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट वर्ग के लोगों का अन्य वर्गो से पार्थक्य दिखाने के लिए होता है। परन्तु गीता के सन्दर्भ मे जब मै इस शब्द का प्रयोग करता हूँ, तो यहाँ उस पार्थक्य का अस्तित्व इसलिए नही है, क्योकि ऋषियो ने ये उदात्त विचार किसी वर्ग-विशेष को – अन्य लोगों को छोड़ केवल हिन्दुओं को नही दिये, बल्कि बिना किसी समुदाय या जाति का भेद किये, मार्गदर्शन चाहनेवाले सभी लोगो को दिये। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही हमे इन प्राचीन ग्रन्थो तथा उनके उपदेशों को ग्रहण करना होगा। इसमें अमुक या अमुक समुदाय का नही, अपितु मानवमात्र का धर्म बताया गया है। सम्पूर्ण मानवता के कल्याण हेतु, न कि केवल उसके कुछ वर्गो के लिए ही नीति, सदाचार तथा दर्शन सिखाया गया है। हमारे समस्त प्राचीन ग्रन्थों में दृष्टिकोण की इस सार्वभौमिकता को भलीभाँति रेखांकित किया गया है; यहाँ तक कि स्मृतिकार मनु ने न केवल हिन्दुओ अपितु पूरी मानवजाति को ध्यान में रखकर अपने नियमों का विकास किया है। यह मानव-धर्मशास्त्र है – यह मानव रूपी अपनी सन्तानो के लिए मनु का संविधान है।

यह प्रत्येक मनुष्य के लिए है, चाहे वह विश्व के किसी भी भाग में रहता हो अथवा किसी भी देश या जाति का हो। यदि मनुष्य सुख तथा अपना हित चाहता है, तो उसे कुछ आदर्शों तथा विधियों का पालन करना पड़ता है। ये आदर्श तथा विधियाँ सार्वभौमिक हैं और उन्हें इस ग्रन्थ के द्वारा प्रचारित किया गया है। इसी प्रकार वेदों तथा उपनिषदो में और परवर्ती काल में गीता में भी, उनके उपदेशों के तात्पर्य तथा प्रभाव जाति या वर्ग के भेदों द्वारा सीमित नहीं हैं। विभिन्न मत एवं सम्प्रदाय उनका लाभकारी ढंग से उपयोग कर सकते हैं, पर उसे समाप्त नहीं कर सकते, क्योंकि ये मानव-स्वभाव से सम्बन्धित हैं और आत्मानुभूति के लिए मानव की आकांक्षाएँ तथा संघर्ष इनका विषय-वस्तु है। धर्मों तथा सम्प्रदायों के रूप में मानव-जाति का विभाजन काफी बाद की घटना है।

अत: गीता पढ़ते समय हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि इसकी शिक्षाएँ समग्र मानव-जाति के लिए हैं – ऐसे सभी नर-नारियों के लिए हैं, जो अपनी अन्तरात्मा के उच्चतर अभिव्यक्तियों की अनुभूति करने हेतु संघर्ष कर रहे हैं। इस दर्शन और इस धर्म ने हमें यही दिया है। गीता की अपनी विशिष्ट संवादीय पद्धति ने भी इसी आदर्श को रेखांकित किया है। यह संवाद श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच होता है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में अर्जुन को नर अर्थात् मनुष्य और श्रीकृष्ण को नारायण अर्थात् परमात्मा का अवतार माना गया है। श्रीकृष्ण इसमें किसी सम्प्रदाय-विशेष को नहीं, अपितु अर्जुन के माध्यम से मनुष्य-मात्र को ही अपने उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार गीता में ईश्वर तथा मनुष्य – नारायण तथा नर आमने-सामने खड़े हैं और यही इसकी भव्य तथा उदात्त पृष्ठभूमि है।

हमारे देश में अनेक शताब्दियों से हिन्दू-मानस संकीर्ण से संकीर्णतर विचारधाराओं की ओर उन्मुख होता गया है; यहाँ तक कि गीता के सार्वभौमिक उपदेशों को भी इन संकीर्ण खाँचों में सीमाबद्ध करने के प्रयास हुए हैं। वैष्णव-परम्परा में या अन्य प्रकार से भी भगवान श्रीकृष्ण को एक सम्प्रदाय में आबद्ध करने का प्रयास किया गया है। श्रीकृष्ण एक सार्वभौमिक आचार्य थे। उन्होंने वैष्णव, शैव या किसी अन्य सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं किया। आज हमें सार्वभौमिकता के इसी स्पन्दन की आवश्यकता है, जो समस्त सम्प्रदायों तथा वर्गों से परे जाकर सभी को अपने में समाहित करके प्रत्येक को एक ही प्रकार की प्रेरणा देता है। अत: गीता को उसकी अपनी पृष्ठभूमि में ही – साक्षात् श्रीकृष्ण रूपी एक सार्वभौमिक व्यक्ति द्वारा की हुई वेदान्त की व्याख्या के रूप में देखा जाना चाहिए। सार्वभौमिक व्यक्ति को छोड़ दूसरा कोई सार्वभौमिक उपदेश नहीं दे सकता और वह एक सार्वभौमिक शिष्य के द्वारा ही समझा भी जा सकता है। यदि सम्प्रदायों द्वारा संकीर्ण कोई व्यक्ति गीता का अध्ययन करे, तो इसमें भी उसको अपनी प्रतिध्वनि के रूप में संकीर्ण शिक्षा ही दिखाई देगी और उसके सीमित मन के द्वारा ही श्रीकृष्ण के बारे में उसकी धारणा भी निर्धारित होगी। पूर्वकाल में ऐसा ही हुआ है; परन्तु अब हमें एक खुले मन की, जीवन के प्रति एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है; केवल तभी गीता हमारे समक्ष अपना सर्वोत्कृष्ट रूप – अपनी सार्वभौमिकता तथा व्यावहारिकता के भाव व्यक्त कर सकेगी। इसके द्वारा इस देश के तथा अन्य देशों के भी असंख्य लोगों पर हो रहे गीता के सशक्त प्रभाव की व्याख्या हो जाती है। सारी दुनिया के लोगों को गीता में कुछ ऐसा मिल जाता है, जो उनके अपने ही मार्ग में उनकी श्रद्धा तथा साधना को सबल बनाता है। चाहे कोई ईसाई या मुस्लिम या हिन्दू धर्म के किसी भी सम्प्रदाय से जुड़ा हो, गीता उनके अपने ही मत में श्रद्धा को सुदृढ़ बनाती है। इसकी सार्वभौमिकता एक विशिष्ट प्रकार की है। यह थोपती नहीं, बल्कि आमंत्रित करती है। गीता को हर कोई अपने निजी ढंग से अपना सकता है। आज के युग में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मेल-मिलाप कराने हेतु हमें एक ऐसे ही सार्वभौमिक सन्देश की जरूरत है।

भगवद्-गीता के अपने भाष्य की भूमिका में श्री शंकराचार्य गीता-संवाद के स्वरूप के विषय में अपना मत प्रकट करते हैं। गीता के प्रादुर्भाव के विषय में कई दृष्टिकोण उपलब्ध हैं। पुरातनपन्थी वर्ग का विश्वास है कि श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच जो संवाद हुआ था, ये सभी श्लोक तभी के हैं। वे शब्दों को ही पकड़ते हैं, परन्तु बाइबिल का कहना है, "शब्द विनाशकारी हैं, पर भाव जीवनदायी हैं।" यह आशा करना अत्यन्त अयौक्तिक है कि युद्धक्षेत्र में इतने दीर्घ काल तक और वह भी श्लोकों में संवाद चलता रहा होगा। अत: बुद्धिवादी लोग इस दृष्टिकोण को नहीं मानते। वर्तमान रूढ़िवाद के जनक माने जानेवाले महान् शंकराचार्य भी इस मत को नहीं स्वीकार करते। अपने भाष्य में वे कहते हैं कि कठिनाइयो से अर्जुन के किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाने पर श्रीकृष्ण ने उन्हे कुछ प्रभावी सलाह दिये और उनकी ये सलाहें व्यासदेव द्वारा ७०० श्लोकों में निबद्ध कर दी गयी। आचार्य शंकर का यही मत है और यह काफी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

हम देखते हैं कि सर्वदा परिस्थितियों तथा परिवेश के दबाव के चलते ही एक महान् शिक्षा या एक महान् आदर्श का जन्म होता है। यह बात दुनिया के किसी भी हिस्से में उत्पन्न होनेवाले किसी भी महत्त्वपूर्ण विचारधारा के बारे मे सत्य है। उन्नीसवी सदी में होनेवाले महान् मार्क्सवादी विचारधारा का जन्म भी ऐसा ही एक उदाहरण है, जो आज दुनिया के सभी हिस्सों के लोगों को प्रभावित कर रही है। यह विचारधारा उस समय उत्पन्न हुई, जब समाज उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। यह पहले से ही एकत्र हुई परिस्थितियो की एक अभिव्यक्ति है।

यह पिछली (१९वीं) शताब्दी के मध्य के दशकों के दौरान रूपायित हुई। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के युद्धघोष के रूप में अपनाये गये 'स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व' के विचार का जन्म फ्रांस में १८वीं शताब्दी के दबाव के दौरान हुआ। इसी प्रकार जब हम गीता तथा महाभारत के काल में प्रचलित व्यवस्था और उन परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं, जिनके कारण गीता के उपदेश प्रकट हुए, तो हम देखते हैं कि उन दिनों गीता में निहित विचारों के प्रचार के महत्त्वपूर्ण कारण विद्यमान थे। प्राचीन काल में हमारे यहाँ वैदिक साहित्य तथा उससे जुड़ा कर्मकाण्डीय धर्म प्रचलित था। फिर हमारे पास उपनिषद् तथा उसमें बताया गया ज्ञानकाण्डीय धर्म भी है। ये दोनों हमारे पास प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आये। वेद हमें इस जगत् में सुख और मरणोपरान्त स्वर्ग का वादा करते हैं। यहाँ तक कि जो व्यक्ति इस लोक की अच्छी चीजें और मरने पर अच्छे लोक में जाना चाहता था, वह उन दिनों ज्ञात विभिन्न देवताओं के लिए यज्ञ करके उन्हें पाने का प्रयास करता था। बाद में उपनिषदों द्वारा इस स्वर्ग-दर्शन का विरोधी स्वर प्रकट हुआ। कठोपनिषद् का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि नचिकेता अपने प्रथम वर से इस जगत् का कुछ माँगता है। दूसरे वर के द्वारा वह जानना चाहता है कि स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है। परन्तु वह इनसे सन्तुष्ट नहीं होता है। उपनिषदों का यह विरोध हमें उच्चतर उद्देश्यों तथा प्रवृत्तियों की ओर ले जाता है और इसीलिए नचिकेता द्वारा माँगा गया तीसरा वर उच्च दर्शन तथा नीतिशास्त्र द्वारा देखी जानेवाली जीवन की समस्याओं से सम्बन्धित है। जीवन के पीछे निहित सत्य की खोज के द्वारा ही इस समस्या का समाधान सम्भव है। यही उपनिषदों का विशिष्ट कार्य है। इस प्रकार पहली बार उपनिषदों में यह प्रश्न सामने लाया गया है। इसके साथ-ही-साथ इहलौकिक जीवन तथा पारलौकिक जीवन के बीच भेद बढ़ता गया और इनके बीच सामंजस्य स्थापित करने की एक महान् आवश्यकता थी। भगवद्-गीता अपनी शिक्षाओं के माध्यम से यही सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करती है। मृत्यु के बाद स्वर्ग में एक अच्छी जगह पाने के लिए वेद हमें कर्म, यज्ञ आदि करने की शिक्षा देते हैं। परन्तु उपनिषदों तक आते-आते हमें उनके प्रति प्रतिक्रिया दिखाई देने लगती है और इनका कर्म, यज्ञ आदि से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इनका आदर्श है – ध्यान के द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार; उनमें कर्म के लिए कोई स्थान नहीं है। परन्तु गीता में हम कर्म की तथा चिन्तन की आवश्यकता के बीच श्रीकृष्ण का अपना सामंजस्य देख पाते हैं। इन दो विपरीत शक्तियों का सामंजस्य किये बिना कोई भी जीवन परिपूर्ण नहीं हो सकता। जो व्यक्ति कहता है 'मैं बिना चिन्तन के ही कर्म करूँगा', वह सफल नहीं होगा और जो व्यक्ति कर्म से विच्छिन्न होकर केवल चिन्तन में ही लगा रहता है, वह भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। अतः एक सामंजस्यपूर्ण दर्शन युग की आवश्यकता थी और श्रीकृष्ण ने भगवद्-गीता मे वही प्रदान किया। गीता के हर अध्याय में हम ऐसे शब्दों तथा धारणाओं के सम्मुखीन होते हैं, जो गीता के पूर्वकाल में प्रचलित थे। श्रीकृष्ण उन्हें उठा लेते हैं, पर उन्हें अपना स्वयं का तात्पर्य तथा व्याख्या प्रदान करते हैं और उन्हें एक ऐसे रचनात्मक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो कर्म तथा चिन्तन के दावों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। यह हमें १८वें अध्याय में कर्म तथा अकर्म की उनकी व्याख्या के समय विशेष रूप से दिखाई देता है।

द्वितीयतः, उपनिषद् एक ऐसे तत्त्व की चर्चा करते हैं, जो सतत दार्शनिक जिज्ञासा का फल है और श्रीकृष्ण उस दर्शन के नैतिक तात्पर्यों को दिखाना चाहते थे। मनुष्य को काफी मार्गदर्शन की जरूरत पड़ती है। यदि दर्शन से यह प्राप्त नहीं होता, तो वह इसे अन्यत्र खोजता है। हमें दर्शन के मार्गदर्शन की जरूरत है, ताकि जीवन को उच्चतर भावभूमियों तक उन्नीत किया जा सके। गीता का उद्देश्य जीवन को साधारण स्तर से नीति व सदाचार के उच्चतर स्तर तक उठाना है। यह जीवन को एक उदात्त दर्शन के मार्गदर्शन में पहुँचा देती है।

दूसरा अध्याय हमें गीता द्वारा परिकल्पित जीवन-दर्शन की सम्पूर्ण योजना प्रदान करता है। उपनिषदों का चिन्तन इसी प्रकार तब तक विकसित होता रहा, जब तक कि उसे श्रीकृष्ण के द्वारा गीता में एक नये तथा मौलिक ढंग से सूत्रों में बद्ध नहीं हो गया। मानवजाति के मित्र, उपदेशक तथा मार्गदर्शक के रूप में श्रीकृष्ण ने एक उदात्त दर्शन तथा व्यावहारिक नीतिशास्त्र के रूप में अपना सन्देश दिया, जो युगो से मानवता को सहारा देता रहा है और आगे भी देता रहेगा।

उपनिषदों में भारतीय चिन्तन के सर्वोच्च तथा सर्वाधिक उदात्त विचार समाहित हैं। मैक्समूलर ने प्राचीन भारत के उन साहसी चिन्तको का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने सत्य एवं युक्ति-प्रेम के चलते और निन्दा या प्रशंसा की परवाह किये बिना दार्शनिक विचारों की एक सुदृढ़ इमारत का निर्माण किया था। उपनिषदों पर चर्चा करते समय मानों हम विचारों के विराट् सागर के आमने-सामने खड़े हैं और गीता में पहली बार उन विचारों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

गीता उस महाभारत का अंग है, जिसमें ईसा से १४ शताब्दियों पूर्व के भारत में हुई घटनाओं को लिपिबद्ध किया गया है। आधुनिक विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुंचे है। जहाँ तक इस ग्रन्थ का सवाल है, वे इसे लगभग ९०० वर्ष ईसापूर्व की तिथि प्रदान करते हैं। निश्चित तिथि चाहे जो भी हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अत्यन्त प्राचीन है।

प्राचीन भारतीय इतिहास का कालानुक्रम अज्ञात है और बुद्ध के बाद के काल से ही एक तरह की कालानुक्रमणिका उपलब्ध है; उसके पहले का सब कुछ प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्तर्गत आता है। गीता का सूत्रीकरण बुद्ध के शताब्दियों पूर्व हुआ माना जा सकता है। गीता में महान् विचार हैं, परन्तु वे लोगों द्वारा ठीक-ठीक समझे नहीं गये थे और बुद्ध ने आकर इन विचारों को एक नया रूप दिया ताकि लोग प्राचीन उपदेशों का सच्चा मर्म समझ सकें।

प्रत्येक महान् विचार की स्थापना ने इस देश में एक युग का सूत्रपात किया है और ऐसे प्रत्येक युग के पीछे एक सशक्त व्यक्तित्व का अस्तित्व रहा है। प्रत्येक राष्ट्रीय युग एक सशक्त विचार के रूपायन का परिणाम था, जिसे उसके पूर्व एक सशक्त व्यक्तित्व ने आकर राष्ट्र को प्रदान किया था। ईसापूर्व की ६वीं शताब्दी में बुद्ध आये और फिर ८वीं शताब्दी में शंकराचार्य का आगमन हुआ और हम लोग अब भी इन महान् आचार्यों के आलोक में जी रहे हैं। आधुनिक युग, १९वीं सदी में भी हमारे बीच महान् विभूतियाँ आईं और आज हम उनके तथा उनके विचारों द्वारा संचालित हो रहे हैं। जो भी भारतीय इतिहास पढ़ता है, वह इस अद्भुत तथ्य पर विस्मित रह जाता है कि यहाँ प्रत्येक युग के पूर्व विचारों के एक सशक्त आदर्श तथा जीवन की स्थापना हुई है, जिसके पीछे प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु के रूप में एक महान् व्यक्तित्व रहा है।

इस ऐतिहासिक घटनावली में कुछ अनुपम तथ्य निहित हैं, जो हमारी संस्कृति को निरन्तरता तथा जीवन्तता प्रदान करते हैं। ऐसी बात आपको चीन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी। पाँच हजार वर्षों का इतिहास हमारे पीछे है; हम वही प्राचीन जाति है और वे ही प्राचीन आदर्श आज भी हमें परिचालित कर रहे हैं। ऐसी क्या चीज है, जो विश्वमंच पर इस संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करती है? विश्व के रंगमंच पर कितनी ही सभ्यताएँ आयीं और जल पर तरंगों की भाँति लुप्त हो गयीं और इन समस्त लोपमान सभ्यताओं में से केवल दो – भारत और चीन की सभ्यताएँ ही स्थायी दीख पड़ती हैं। यह तथ्य हमें गहराई से सोचने को मजबूर कर देता है कि हमारी सांस्कृतिक अमरता के क्या कारण हैं। एक ऐसा भी समय था जब यूनान तथा रोम विश्वमंच पर बड़े धूमधाम तथा जोशो-खरोश के साथ उपस्थित थे, उसके भी काफी पहले बेबीलोनिया तथा मिस्र थे; और आज इंग्लैंड है, जो पिछड़ चुका है और अब रूस तथा अमेरिका हैं। पहले जिन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभायी थी, वे अब लुप्त हो चुके हैं; वे देश तथा उनकी भौगोलिक संरचना तो है, पर उनकी सांस्कृतिक निरन्तरता खो चुकी है, उनकी विरासत टूट चुकी है। भारत, प्राचीन यूनान तथा रोम के आमने-सामने खड़ा था; वह अब भी बिना बदले विश्वमंच पर नवागन्तुको का स्वागत करने के लिए खड़ा है और भविष्य में आनेवालों का भी स्वागत करने के लिए ऐसे ही उपस्थित रहेगा। यह इतिहास का एक सत्य है और भारतीय इतिहास के अध्येताओं के रूप में हमारा यह कर्तव्य है कि हम इस तथ्य का परीक्षण करें और इसमें निहित पाठों को सीखें। यह हमें अपनी संस्कृति के मूल तथा उद्गम-सम्बन्धी जिज्ञासा की ओर ले जाता है।

वेदों तथा उपनिषदों से नि:सृत होनेवाले विचारों ने; श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य तथा अन्य विभूतियों के अवदानों से परिवर्धित होकर हमारे सांस्कृतिक मूल्यो को मूलभूत प्रेरणा प्रदान की है और उन्ही के प्रति निष्ठा हमारी जाति तथा संस्कृति के निरन्तर जीवन्तता का कारण रहा है। एक राष्ट्र के रूप में हमारे जीवन में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं, क्योंकि कोई भी प्रगति निरन्तर नही होती रहती; सर्वत्र उतार-चढ़ाव आते हैं, परन्तु भारत के विषय में विचित्र बात यह है कि जहाँ दूसरे राष्ट्र एक बार गिरने के बाद फिर उठते नहीं, वहीं हम गिरने के बाद दुबारा उठ खड़े होते हैं; जहाँ दूसरे लोग जीते और मरते हैं, पर दुबारा नहीं उठते; वहीं भारत केवल मरा-सा प्रतीत होता है और पुन: नवजीवन के साथ पूर्वापेक्षा अधिक महिमामय होकर जाग उठता है। १९वीं सदी के भारत में आनेवाले ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सोचा था कि भारत सदा-सर्वदा के लिए मर रहा है। उन लोगो ने अमेरिका के रेड-इंडियनों, मेक्सिकनों तथा इंकाओं से तुलना करते हुए ऐसा कहा था। उपरोक्त जातियों ने अमेरिकी महाद्वीप में कभी महान् सभ्यताओ की सृष्टि की थी, परन्तु यूरोपवासी गोरो के सम्पर्क में आते ही वे मुरझा गये। यहाँ तक कि हम लोगों ने भी मिशनरियों द्वारा सुनाए गये इस फैसले को अपनी नियति-सा मान लिया था। परन्तु आज हम और वे लोग भी कुछ अलग ही अनुभव करते हैं। अब हमे अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के बारे में कोई हीन-भावना नही रह गयी है, अपितु हम आक्रामकता के साथ दुनिया का सामना कर रहे हैं; यहाँ आक्रामकता आदर्श के क्षेत्र में है। कोई भी संस्कृति तभी जीवन्त कही जाती है, जब वह अपने कगारों से ऊपर उठकर बहती है। विस्तार ही जीवन है और संकुचन मृत्यु। पिछले हजार वर्षो से हम मृत्यु का स्वागत कर रहे थे; हम अपने चारों ओर सँकरी दीवारें खड़ी कर रहे थे। परन्तु पिछले सौ वर्षो के दौरान हमने उन सँकरी दीवारों को तोड़ दिया है और दुनिया का सामना करके, इसके दूर-दूर के हिस्सों तक अपने विचारों का प्रसार कर रहे हैं। यह वही प्राचीन जाति है और वही प्राचीन संस्कृति है, परन्तु नवीन जीवन तथा अभिनव शक्ति से युक्त है। यह बड़े मार्के की बात है। जबकि दूसरे देश शोरगुल मचाते हैं और नष्ट हो जाते है, हम लोग निद्रा में जाते हैं और नवीन उत्साह के साथ दुनिया का सामना करने के लिए फिर से जाग उठते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

वर्तमान भारत और स्वामी विवेकानन्द

स्वामी सत्यरूपानन्द

हमारा देश आज एक सक्रान्ति के काल से गुजर रहा है। विभिन्न प्रकार की विघटनकारी तथा हिंसात्मक शक्तियाँ देश में सक्रिय हो उठी हैं। आन्तरिक तथा बाह्य – दोनों प्रकार के सकट आसन्न प्रतीत हो रहे हैं। इस सक्रान्ति के क्षणों में स्वामी विवेकानन्द के उपदेश हमारा स्पष्ट मार्गदर्शन करने में समर्थ हैं।

अतीत का स्मरण करो – जिस प्रकार किसी वृक्ष की जड़ें भूमि के भीतर होती हैं, उसी प्रकार राष्ट्र की जड़ें भी उसके अपने अतीत में समायी हुई होती हैं। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने हम भारतवासियों से कहा कि अपने अतीत का स्मरण करो, अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन करो तथा यह स्मरण रखो कि तुम उन महान् ऋषि-मुनियों की सन्तान हो, जिन्होंने विश्व को आत्मा और परमात्मा का ज्ञान दिया था। जिन्होंने यह घोषणा की थी कि तुम सब अमृत के पुत्र हो, अमृत की सन्तान हो। उस एक ही ब्रह्म से तुम सबकी उत्पत्ति हुई है। अतः सब सहोदर-सहोदरी हो। यह सम्पूर्ण वसुधा तुम्हारा घर है। सारी पृथ्वी के लोग तुम्हारे अपने जन हैं। मनुष्य को देवता बनानेवाले, उसे नर से नारायण बनानेवाले उदात्त विचार तथा जीवन-पद्धति को हमारे ही पूर्वजों ने विश्व को दिया था। अतः अपने वैभवशाली अतीत का स्मरण करो तथा उस पर गर्व करो।

अतीत से शिक्षा लेकर वर्तमान में कर्म करो – अतीत को जानकर हमें उससे शिक्षा लेनी होगी, प्रेरणा लेनी होगी। अपने वैभवशाली अतीत का स्मरण मात्र या उस पर केवल गौरव करना पर्याप्त नहीं होगा। हमारे पूर्वजों ने उन उच्च एव उदात्त विचारों के आधार पर जिस प्रकार जीवनयापन किया था, जिस प्रकार महान् और आदर्श चरित्र का निर्माण किया था, हमें भी उसी प्रकार का महान् जीवन जीना होगा। वैसे ही उच्च चरित्र का निर्माण करना होगा, महान् चरित्रवान बनना होगा। तभी हम इस सकट से उबर सकेंगे। इसके लिए हमें वर्तमान में कठिन परिश्रम करना होगा। कितनी ही कठिनाइयाँ, विघ्न-बाधाएँ क्यों न हों, हमें कमर कसकर कर्म में लग जाना होगा। स्वामीजी ने हमारा आह्वान करके कहा है – चुनौतियों को स्वीकार करो, दुर्बलताओं को त्यागो तथा अपने और राष्ट्र के निर्माण का सारा भार अपने कन्धों पर ग्रहण करो। स्मरण रखो कि आज तुम जो हो, तुममें जो भी गुण-दोष हैं, उन सभी के लिए तुम स्वय उत्तरदायी हो। तुम आज जो भी हो, वह तुम्हारे अपने कर्मों के फलस्वरूप ही है। अतः कटिबद्ध होकर कर्म में जुट जाओ।

धर्म और आध्यात्मिकता ही भारत का मेरुदण्ड है – आध्यात्मिकता हमारे राष्ट्र की आत्मा है। धर्म हमारा मेरुदण्ड है। भारत का आध्यात्मिक आदर्श विश्वजनीन है। हमारे धार्मिक आदर्श में साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं है। हम न केवल सभी धर्मों का सम्मान करते हैं, बल्कि हम सभी धर्मों को स्वीकार भी करते हैं। हम यह मानते हैं कि ससार के सभी धर्म उस एक ईश्वर के पास पहुँचने के रास्ते हैं, जो ईश्वरप्रेम और आनन्द-स्वरूप है। अतः सभी धर्मों के अनुयाइयों का भारत में हमने स्वागत किया है। सभी धर्म के लोगों के लिए इस देश में स्थान है। अतः हम भारतवासियों का यह कर्तव्य है कि हम सर्वप्रथम अपने जीवन में इस महान् आध्यात्मिक आदर्श को स्वीकार करें, अपने स्वय के जीवन का गठन करें तथा अन्य सभी को उनके अपने आदर्शों के अनुसार जीवन-गठन में सहायता करें। इसी एक उपाय से ही हम साम्प्रदायिकता के घातक विष से बच सकते हैं।

देशभक्ति और देशसेवा – भारत के कल्याण में ही हमारा कल्याण है। हम सभी अपने देश की सेवा करना चाहते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने देशसेवा करनेवालों के लिए कुछ शर्ते रखी हैं। उन शर्तों को पूरी करके ही हम देश की सच्ची सेवा कर सकते हैं। देशसेवा की सबसे पहली शर्त यह है कि हम अपने देशवासियों के लिए, अपने अशिक्षित दुखी दरिद्र देशवासियों के लिए हृदय से सहानुभूति रखें। स्वामीजी पूछते हैं कि क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि तुम्हारे करोड़ों देशवासी भाई भूखे हैं, नंगे हैं, अशिक्षित हैं? क्या यह सोचकर तुम्हारी नींद हराम हो गई है? यदि हाँ, तो यह पहली शर्त है, केवल पहली।

दूसरी शर्त है कि क्या तुमने अपने इन दुखी-दरिद्र देशभाइयों के दुख दूर करने का कोई उपाय सोचा है? क्या उनके दुखों को दूर करने का कोई व्यावहारिक उपाय निकाला है?

और तीसरी शर्त है – जो उपाय तुमने सोचा है, उसे क्रियान्वित करने में यदि तुम्हारा समाज, तुम्हारे बन्धु-बान्धव, यहाँ तक कि तुम्हारे स्वजन सम्बन्धी भी तुम्हारा विरोध कर रहे हों, तुम्हारे विरुद्ध खड्गहस्त खड़े हों, तो क्या तुम वह करने को प्रस्तुत हो? यदि हाँ, तो यह तीसरी शर्त है।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा बताई गई इन शर्तों को पूरी करने पर ही हम एक सच्चे देशभक्त और देशसेवक हो सकते हैं तथा तभी हम देश की सच्ची सेवा कर सकते हैं। आज सकट की इस घड़ी में स्वामीजी के इन उपदेशों का चिंतन हमें सही दिशा देकर उचित मार्ग में अग्रसर कर सकता है। ❑ ❑ ❑

आशा से आकाश थमा है

भैरवदत्त उपाध्याय

आशा करना या रखना हमारा स्वभाव है। चूँकि मनुष्य होने के नाते हम बुद्धिमान प्राणी हैं, अत: हम चिन्तन-मनन-शील भी हैं। हम केवल वर्तमान में ही नहीं जीते, वरन् अतीत और भविष्य भी हमारे जीवन से जुड़े होते हैं। यदि अतीत हमारी धरोहर है, तो भविष्य हमारी पूँजी। अतीत और वर्तमान देखकर हम भविष्य की रेखाओं में रंग भरते हैं और उससे आनन्दविभोर हो उठते हैं। पूर्व के कार्यों को वर्तमान के कारणों के सन्दर्भ में रखकर ही हम भविष्य के परिणामों का निर्धारण करते हैं। हमारी प्राक्कल्पनायें यदि सत्य सिद्ध हो जाती हैं, तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती।

आशा जीवन का आधार, जीजीविषा का प्राण और जीवन के आँगन का ज्योति-स्तम्भ है। आशा के कारण हमारे कार्यों को गति मिलती है, उत्साह और प्रेरणा का संचार होता है। हम प्रतिदिन सूर्य की नयी किरणों से नये प्रभात की आशा करते हैं, नव उपलब्धियों की कामना व सर्वमांगल्य की अपेक्षा करते हैं। माना कि हमारा जीवन क्षणिक है, पानी के बुलबुले के समान हमारा अस्तित्व है। हमारा शरीर व्याधियों का घर है, बुढ़ापे की काली छाया से आक्रान्त है, सफलता अनिश्चित है, तो भी हमें जिन्दगी का सफर तय करना ही होगा, कर्मो का निष्पादन जरूरी है। वैयक्तिक तथा सामाजिक दायित्वों का निर्वहन अनिवार्य है। हमें अपने आप को अजर-अमर मानकर, अपने मन को आशाओं से ओतप्रोत कर कर्म करना है। कार्यों के सम्पादन में शिथिलता, प्रमाद या दीर्घसूत्रता अपेक्षणीय नहीं है। हमें मानकर चलना है कि हमारे बालों को यमराज ने पकड़ लिया है और कभी पटकनी लगा सकता है। हम काल के गाल में बैठे हैं। कालसर्प का विषदन्त कभी भी लग सकता है। अत: कबीर ने कल के सारे कामों को आज ही निपटाने को सचेत किया है, पर निराशा के अन्धसागर में डूबकर कर्म छोड़ने के सिद्धान्त से वे रंचमात्र भी सहमत नहीं थे।

निराशा जीवन का काला पृष्ठ है। उस पर काली स्याही से कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। वह मृत्यु का अपर पर्याय है, विध्वंश का प्रतीक है। व्यक्ति जब निराशा से घिर जाता है, स्वयं को असहाय व तुच्छ मानने लगता है, तब वह सृजन एवं निर्माण को छोड़ विध्वंस में लग जाता है'। इसी मन:स्थिति के कारण वह हत्या एवं आत्महत्या जैसे जघन्य कर्म भी कर बैठता है। आलस्य व प्रमाद भी निराशा के ही उपज हैं। जीवन के संघर्षो से भागना निराशा का ही फल है। निकटवर्ती परिणामों की दृष्टि, लघु-मार्गानुसरण की प्रवृत्ति, साधनों की शुद्धता की उपेक्षा एवं जीवन में कलह व दुर्व्यसनों का प्राबल्य इसी निराशा की देन है। अत: निराशा का त्याग जरूरी है।

निराशा का कारण आशा है। ऊँची आशाएँ जब अनुकूल फल नहीं देतीं, तो व्यक्ति का मन निराशा से भर जाता है। अत: आशाओं का यथार्थ के धरातल से जुड़ना और हमारे सामर्थ्य, शक्ति व साधनों की सीमा में रहना जरूरी है। जिसने साधारण-सी भी पहाड़ी पर चढ़ने की चेष्टा नही की, वह यदि हिमालय की सर्वोच्च चोटी पर चढ़ने की आशा करे, तो उसकी हँसी ही होगी, विफलता व निराशा ही हाथ लगेगी। इससे बचने हेतु हमें अपने कद से ऊँची आशाओं से बचना चाहिए।

गीता ने आशा की निन्दा की है। उसके त्याग का, आशा के पाश से मुक्ति का उपदेश दिया है। निराशी होने की प्रेरणा दी है। उसके अनुसार आशा का अर्थ है, विषयों की आकांक्षा, फल की आसक्ति और भोग की ओर मानव चेतना का झुकाव, जो आत्मा के अभ्युदय में, देवत्व की साधना मे, मनुष्यत्व की प्राप्ति में सर्वथा बाधक है। आशा सबको डँसनेवाली सर्पिणी है। वह एक नदी है, जो अपार है, जिसमें विषयों के मगर रहते हैं। जिनका काम नदी में उतरनेवाले प्रत्येक को निगलना है। आशा अमर है, वह नहीं मरती, उसके फन्दे में फँसकर हम मनुष्य ही मरते हैं – **आशा तृष्णा ना मरी, मरि मरि गये शरीर**। इस आशा के त्याग का अर्थ हमारी भोगोन्मुखी प्रवृत्ति का त्याग है। जो हमें स्वार्थी और लोलुप बनाती है। दम्भ और पाखण्ड की ओर धकेलती है। योग में स्थिर होकर आसक्ति का त्याग कर कर्म के निष्पादन से विरत करती है।

आशा अजेय संकल्प का नाम है। दृढ़ निश्चय और अपूर्व साहस का प्रतीक है। शुद्ध मन से पवित्र उद्देश्य के लिये किये जाने वाले कर्म की निष्ठा है। जीवन-दर्शन और जीवन का आदर्श है। जीवन का महामंत्र और जीवन का गान है। आशा की वीणा से ही जीवन के समरस स्वर निकलते हैं। आशा के ही उद्वेलन से सामाजिक क्रान्ति और वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं। अहिंसा और करुणा के प्रवाह में उसी का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। आशा के कारण परमात्मा सृजन को उत्प्रेरित हुए। नये विहान की आशा से ही सूर्य उगता है, वायु चलती है, लताओं के पत्ते हिलते हैं और नदियाँ सागर की ओर चलती हैं। चातक स्वाति की आशा में ही जीता है, चकोर इसी के भरोसे राते काटता है, वियोगिनी कुमुदिनी चन्द्र की आशा में ही दिन बिताती है। जगत् की गतानुगति इसी के बल पर है। आकाश इसी आशा के खम्भों पर थमा है – आशा से आकाश थमा है। इससे निराशा का कुहरा छँटता है और जीवन को दिशा मिलती है। वह जीवन का सम्बल है। इसलिये अन्त तक उसे न खोना क्या हमारे जीवन का व्रत नही है?

मेरे सपनों का भारत

भारतरत्न डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

(सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा चिन्तक द्वारा हैदराबाद में दिये हुए व्याख्यान का यह अंश संस्कृत के 'सम्भाषण-सन्देश:' मासिक के जुलाई २००१ के अंक में प्रकाशित हुआ था, वहीं से यह साभार अनूदित हुआ है। – सं.)

भारत के आनेवाले भविष्य के बारे में **मेरे तीन स्वप्न** हैं। ... यदि हम इतिहास का अध्ययन करें, तो हम पायेंगे कि विगत तीन हजार वर्षों में संसार के विभिन्न भागों से आयी हुई विदेशी जातियों ने हमारे ऊपर आक्रमण करके हमारी भूमि पर कब्जा कर लिया और हमारे मनों को भी पराभूत कर दिया। सिकन्दर से लेकर आज तक हम इसी की पुनरावृत्ति देखते आ रहे हैं। यूनानी, तुर्की, मुगल, पुर्तगाली, अँग्रेज, फ्राँसीसी तथा डच – सबने दूसरे देशों से आकर हमें लूटा और हमारा सर्वस्व हरण कर लिया। परन्तु हम भारतवासियों ने किसी भी देश के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया। हमने किसी को भी पराजित नहीं किया। हमने कभी उनकी जमीन, उनकी संस्कृति तथा उनके इतिहास पर न तो कब्जा किया और न उन पर अपनी जीवन-शैली ही थोपने का प्रयास किया।

हमने ऐसा क्यों किया? – इसलिए कि हम सभी लोगों की आजादी का सम्मान करते हैं। **यह आजादी ही मेरा पहला स्वप्न है**। मेरा विश्वास है कि भारत के जेहन में इस आजादी की कल्पना पहली बार १८५७ ई. में आयी और तभी हमने आजादी के लिए पहला युद्ध किया। यह आजादी हमारे लिये रक्षणीय, वर्धनीय एवं सुदृढ़ करने योग्य है। यदि हम स्वाधीन नहीं होंगे, तो कोई भी हमारा सम्मान नहीं करेगा।

भारत के विषय में **मेरा दूसरा स्वप्न है विकास**। पिछले पचास वर्षों से भारत एक विकासशील राष्ट्र है, तथापि अब भी यह विकसित नहीं हो सका है। परन्तु अब हमारे एक विकसित राष्ट्र के रूप में परिगणित होने का समय आ गया है। 'सकल राष्ट्रीय उत्पाद' की दृष्टि से भारत अब विश्व के पाँच सर्वोच्च देशों में से एक है। अनेक क्षेत्रों में हमारे विकास की गति दस प्रतिशत है। हमारी निर्धनता का स्तर क्रमश: घटता जा रहा है। आज हमारी उपलब्धियों को विश्व-स्तर पर स्वीकार किया जा रहा है। इसके बावजूद हममें एक स्वावलम्बी, आत्मनिर्भर तथा विकसित राष्ट्र के समान आत्मविश्वास का अभाव है। क्या यह अनुचित नहीं है?

मेरा **तीसरा स्वप्न** यह है कि **भारत विश्व का सामना करे**; क्योंकि मेरा विश्वास है कि जब तक भारत विश्व का सामना नहीं करेगा, तब तक कोई भी हमें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखेगा। केवल शक्ति को ही शक्ति का सम्मान मिलता है। हमें केवल एक सैन्य-शक्ति के रूप में ही नहीं, अपितु एक आर्थिक शक्ति में भी विकसित होना होगा। ये दोनों शक्तियाँ साथ-साथ रहनी चाहिए।

मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मुझे तीन महान् प्रतिभाओं के साथ कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ – अन्तरिक्ष विभाग के डॉ. विक्रम साराभाई, उनके उत्तराधिकारी प्रो. सतीश धवन और अणु-पदार्थ के जनक डॉ. ब्रह्मप्रकाश। बड़े भाग्य से मुझे इन तीनों के साथ घनिष्ठतापूर्वक कार्य करने का मौका मिला और मैं इसे अपने जीवन का परम सौभाग्य मानता हूँ।

मेरी जीवन-यात्रा में चार बड़े महत्वपूर्ण मील के पत्थर आये हैं – **प्रथम** – भारतीय अन्तरिक्ष शोध संस्थान में बिताये गये अपने जीवन के बीस वर्षों के दौरान मुझे एस.एल.वी.३ नामक भारत के सर्वप्रथम उपग्रह-प्रक्षेपण-यान के प्रकल्प-निदेशक के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। उसी यान से 'रोहिणी' नामक उपग्रह प्रक्षेपित किया गया था। वैज्ञानिक के रूप में मेरे जीवन में ये वर्ष बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

दूसरा – उसके बाद मेरी नियुक्ति रक्षा-अनुसन्धान-विकास-संस्था (डी.आर.डी.ओ.) में हुई, जहाँ मुझे भारत की नियंत्रित प्रक्षेपास्त्र प्रणाली के प्रकल्प में भाग लेने का अवसर मिला। १९९४ ई. में जब हम लोग 'अग्नि' यान के निर्माण में सफल हुए, तो यह मेरे लिए एक दूसरा आनन्द का अवसर था।

तीसरा – परमाणु-ऊर्जा-विभाग तथा रक्षा-अनुसन्धान-विकास-संस्था के सुदृढ़ पारस्परिक सहयोग से १९९९ ई. के ११ और १३ मई को भारत ने पोखरण में सफल परमाणु-परीक्षण किये। वह मेरे जीवन का तीसरा परम आनन्दप्रद क्षण था। उस समय मैंने अपने सहयोगियों के साथ इन परमाणु-परीक्षणों में भाग लिया और इस प्रकार हम पूरी दुनिया के समक्ष सिद्ध कर सके कि भारत भी इसे करने में सक्षम है और 'हम केवल एक विकासशील राष्ट्र नहीं, बल्कि विकसित राष्ट्रों में एक हैं'। इससे मुझे एक भारतीय के रूप में अत्यन्त गर्व का अनुभव हुआ। फिर हम लोगों ने 'अग्नि' (प्रक्षेपण यान) के लिए एक 'पुन:प्रवेश-ढाँचा' भी बना लिया है, जिसके लिए हम लोगों ने इस नये पदार्थ – कार्बन-कार्बन नामक एक अत्यन्त हल्के पदार्थ का विकास किया है।

चौथा – कुछ दिनों पूर्व हैदराबाद नगर में स्थित Nizam's Institute of Medical Sciences (आयुर्विज्ञान-संस्थान) से एक अस्थि-रोग-विशेषज्ञ मेरी प्रयोगशाला में आये। उन्होंने हम लोगों द्वारा आविष्कृत कार्बन-कार्बन नामक विशेष पदार्थ को उठाया और उसके हल्केपन को देखकर बड़े आश्चर्यचकित हुए। उसके बाद वे मुझे अपने अस्पताल में ले गये और वहाँ चिकित्सा प्राप्त कर रहे बालक-बालिकाओं को दिखाया। वे

करीब तीन किलो वजन के धातु-निर्मित आधार-दण्ड से युक्त जूते पहने घिसट-घिसट कर चल रहे थे। उन अस्थि-विशेषज्ञ ने मुझसे कहा, "आप मेरे रोगियों की पीड़ा दूर कीजिए।"

इसके बाद तीन सप्ताह के भीतर ही हमने उनके जूतों के लिए मात्र ३०० ग्राम वजन के आधार-दण्डों का निर्माण करके उनके अस्पताल के अस्थि-रोग विभाग को सौंप दिया। उसे अपनी आँखों से देखकर भी वे लड़के विश्वास नहीं कर पा रहे थे। तीन किलो वजन के साथ घिसटने के स्थान पर अब वे इतने कम भार के साथ खुशी खुशी इधर-उधर चलने लगे। उनके अभिभावकों के नेत्र भी खुशी से डबडबा उठे। यह मेरे जीवन का चौथा सर्वाधिक आनन्दप्रद क्षण था।

कुछ अन्य प्रश्न भी मुझे सदा कचोटते रहते है – "हमारी मीडिया हमेशा नकारात्मक रुख ही क्यों अपनाती हैं?" "हम भारतवासी अपनी सुदृढ़ताओ और उपलब्धियो को जानने तथा स्वीकार करने में इतने संकुचित क्यो होते हैं?" "हम एक इतने महान् राष्ट्र है। हमने इतने क्षेत्रों में अद्‌भुत सफलताएँ प्राप्त की हैं, पर क्यों हम उन्हें स्वीकार करने से कतराते है?"

दुग्ध-उत्पादन के क्षेत्र में (दुनिया में) हमारा पहला स्थान है। दूरसंवेदी उपग्रहों के क्षेत्र में भी हम सबसे आगे है। गेहूँ के हम दूसरे सबसे बड़े उत्पादक हैं और धान के उत्पादन में हमारा स्थान दूसरा है। डॉ. सुदर्शन की सफलता को ही देखिए। उन्होंने कर्नाटक के बिलगिरि-रंगन पहाड़ में वनवासियों के गाँवों को पूरी तौर से आत्मनिर्भर बना दिया है। ऐसी लाखों उपलब्धियाँ हो रही हैं, परन्तु हमारी मीडिया को तो बुरी खबरों, विफलताओं तथा दुर्घटनाओं के प्रचार-प्रसार में ही अधिक रुचि है। वे लोग यह सब जरा भी नहीं देख पाते।

मैं एक बार तेलअबीब गया हुआ था। वहाँ मैं इजरायल का समाचार-पत्र पढ़ रहा था। उसके पिछले दिन ही उस देश में कई स्थानों पर आक्रमण तथा बमबारी हुई थी; जिसमें बहुत-से लोग मरे थे। हमस नामक आतंकवादी संगठन का आक्रमण हुआ था; परन्तु अखबार के मुखपृष्ठ पर कुछ दूसरी ही चीज थी। किसी यहूदी सज्जन ने पाँच वर्ष तक कठोर परिश्रम करके एक मरुभूमि को हरे-भरे उद्यान तथा अन्नक्षेत्र में परिणत कर दिया था – इसी को चित्रकथा के रूप में प्रकाशित किया गया है। वहाँ सुबह उठते ही हर व्यक्ति को सर्वप्रथम ऐसे ही प्रेरणादायी चित्र देखने को मिलते है। उसमें विस्फोट, आक्रमण तथा मृत्यु की खबरें भी थी, पर वे अखबार के भीतरी पृष्ठों में अन्य समाचारो के साथ संक्षिप्त रूप मे दी गयी थीं। भारत के समाचार-पत्रों मे तो हम लोग मुख्य रूप से अपराध, आतंकवाद, मृत्यु, रोग आदि की खबरें ही पढ़ते हैं। हम लोग इतने नकारात्मक क्यों हो गये हैं?

एक दूसरा प्रश्न, जो मुझे कचोटता रहता है, वह यह है कि एक स्वाधीन राष्ट्र के नागरिक होकर भी क्यों हम लोग विदेशी वस्तुओ के प्रति इतने मोहग्रस्त हैं? क्यों हम लोग विदेशी टी.वी चाहते हैं, विदेशी वस्त्र चाहते है, हम विदेशी तकनीक चाहते हैं? विदेशों से आयातित हर वस्तु के लिए ऐसी उन्मत्तता क्यों उमड़ रही है? क्या हमें यह बोध नहीं होता कि आत्म-निर्भरता से ही आत्म-सम्मान की प्राप्ति होती है?

इस व्याख्यान के लिए हैदराबाद आने पर एक चौदह वर्ष की बच्ची मेरा हस्ताक्षर (आटोग्राफ) माँगने आयी। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारे जीवन का क्या लक्ष्य है?" उसने उत्तर दिया, "एक विकसित और सुसम्पन्न भारत में जीवन- यापन करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है।" हमें और आप सबको मिलकर उस बच्ची के सपनों के सुविकसित भारत का निर्माण करना होगा। आप सबको यह घोषणा करनी होगी कि भारत मात्र एक विकासशील नही, अपितु एक अति उन्नत, समृद्ध तथा सम्पन्न राष्ट्र है। ❑

(विवेक-ज्योति के शुरू के वर्षों में पाठकों के प्रश्न तथा उसके साथ तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा लिखित उनके उत्तर भी मुद्रित होते थे । अब भी वे प्रश्नोत्तर अति प्रासंगिक है, अत: उन्हीं में से चुने हुए अंशों को हम पुनर्मुद्रित कर रहे हैं । – सं.)

१. प्रश्न – कभी-कभी संसार की झंझटों से मन ऊब जाता है । सब छोड़-छाड़कर कहीं निकल जाने की प्रबल इच्छा होती है । आपका क्या ख्याल है?

उत्तर – यह मन की कायरता है । कहीं निकल जाने से काम नहीं बनता । जिन झंझटों से बचने के लिए आप भागना चाहते हैं, सम्भव है कि वे ही आपको अन्य स्थान पर भी कष्ट दें । अत: उत्तम तो यह है कि प्रभु का स्मरण करते हुए दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य-पथ पर लगे रहें । स्थान-परिवर्तन से मन के संस्कार बदल नहीं जाते । प्राय: यह देखा गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण ही झंझटों में पड़ता है । ऐसी दशा में, अपने दृष्टिकोण को सुधारना ही एकमात्र उपाय है । हाँ, इतना आप अवश्य कर सकते हैं – बीच-बीच में कुछ दिन के लिए ऐसे व्यक्ति का सान्निध्य करते रहें, जिन्हें आप आध्यात्मिक क्षेत्र में आचार्य के समान श्रद्धा करते हैं । इससे आपको नयी शक्ति मिलेगी और मुसीबतों का सामना करने के लिए नया दृष्टिकोण मिलेगा ।

२. प्रश्न – मैं बड़े क्रोधी स्वभाव का हूँ । क्रोध के आवेश में कभी मुझसे अनुचित कार्य भी हो जाते हैं । बाद में पश्चात्ताप होता है । इसे जीतने का कोई उपाय बता सकते हैं ।

उत्तर – यह एक आशापूर्ण बात है कि आपको अपने दोष का ज्ञान है । क्रोध को जीतने की पहली सीढ़ी आपने तय कर ली है । अपनी किसी बुराई को दूर करने का प्रथम सोपान है – उस दोष को स्वीकार करना और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहना । आपको पश्चात्ताप होना दर्शाता है कि आप उस दुर्गुण को दूर करने का प्रयत्न करते हैं । क्रोध को शान्त करने के लिए आप निम्न दो उपायों को काम में ला सकते हैं –

(१) जहाँ आपको ऐसा लगा कि क्रोध की वृत्ति धीरे-धीरे मन में उठ रही है, त्योंही आप उस स्थान या परिवेश को छोड़ दूसरी जगह चले जाएँ । क्रोध का कोई कारण सामने आने पर वहाँ से हट जाने का अभ्यास करें ।

(२) यदि एकदम हट जाना न जम सका, तो मन में एक ऐसे जीवित व्यक्ति की छवि अंकित करने का प्रयत्न कीजिए, जिसे आप बहुत प्यार करते हैं अथवा जिनकी श्रद्धा करते हैं । ध्यान को प्यार या श्रद्धा के विषय पर बाँट देने से मन धीरे-धीरे शान्त हो उठता है । इन दो उपायों का अभ्यास कीजिए, अवश्य सफलता मिलेगी ।

३. प्रश्न – गुरुजनों के साथ बातचीत के समय मैं प्राय: तुतला उठता हूँ, पर मित्रों या समवयस्कों के साथ बातें करते समय मैं बिलकुल ठीक रहता हूँ । कोई निदान बता सकते हैं?

उत्तर – ऐसा लगता है कि आपके मन में एक गाँठ पड़ गयी है । अंग्रेजी में इसे Inferiority complex (हीनता की वृत्ति) कहते हैं । बड़ों के पास जाते आपको कुछ घबड़ाहट भी लगती होगी । उनके सामने आप अपने को दोषी समझते हैं ऐसा प्रतीत होता है । शायद इसका कारण जीवन में घटी ऐसी कोई घटना हो, जो आपके चरित्र से सम्बन्धित हो । एक काम करें – एक ऐसे व्यक्ति के पास जिन्हें आप आदर की दृष्टि से देखते हैं और जिन पर आप विश्वास कर सकते हैं कि वे आपके जीवन की अवांछित बातें सुनकर भी आप से घृणा नहीं करेगे, अपने जीवन की सारी बातें कह डालिए । किसी भी घटना को छिपाकर न रखें । यदि प्रत्यक्ष कहने में हिचक महसूस होती हो, तो लिखकर बता दें ।

इसके साथ ही आप नित्यप्रति यह भाव मन में उठायें कि आपमें भी उसी परमात्मा की शक्ति कार्य कर रही है । आप अपने को हीन समझने की भावना को त्यागने की कोशिश करें । क्यों अपने आपको दुर्बल समझते हैं? आपमें भी तो वही आत्मशक्ति निहित है । उसे प्रकट करें । उसका विकास करें । रात में सोते समय और सुबह उठकर बिस्तर में ही बैठे-बैठे आप कल्पना कर सकते हैं कि आपमें भी वही आत्म-ज्योति प्रकाशित है । हृदय के मध्य में ज्योतिशिखा का ध्यान करें – कल्पना-नेत्रों से उस ज्योतिशिखा को अपूर्व तेजवान और निष्कम्प देखने का अभ्यास करें । अनुभव होगा, आपकी तुतलाहट धीरे-धीरे दूर होती जा रही है ।

४. प्रश्न – मन बड़ा चंचल है । उसकी चंचलता को दूर करने का कोई सरल उपाय बता सकते हैं?

उत्तर – सरल उपाय बताना बड़ा कठिन है । रोग जितना कठिन हो, उसकी दवा भी उतनी ही कड़वी होती है । शत्रु जितना भयंकर होता है, उसको जीतने का उपाय भी उतना ही कठिन होता है । फिर भी, लगन के द्वारा असम्भव को सम्भव

किया जा सकता है। हार मान लेने या निराश होने की कोई बात नहीं। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को मनोजय के लिए दो उपाय बताये हैं – अभ्यास और वैराग्य। जिन बातों से मन की चंचलता कुछ कम होती है, उनका नियमित अभ्यास और जिनसे मन अधिक चंचल हो उठता हो, उनके प्रति विराग या उपेक्षा।

५. प्रश्न – जब मैं इष्टदेव का ध्यान करता हूँ, तो कभी उनका हाथ ही ध्यान में आता है, कभी उनके पैर, कभी अन्य अंग ध्यान में आते हैं; पर इष्टदेव का समूचा आकार कोशिश करने से भी ध्यान में नहीं आ पाता! क्या किया जाय?

उत्तर – चिन्ता की कोई बात नहीं। निम्नलिखित अभ्यास से आपकी समस्या दूर हो सकती है –

ठीक है, आप ध्यान कीजिए। मान लीजिए, इष्टदेव का हाथ ही ध्यान में आपके सामने आया। आपके प्रश्न से ऐसा लगता है कि आपका मन बन्दर की तरह हाथ से कूद कर पैर पर, फिर पैर से कूदकर चट से सिर चला जाता है। बन्दर को कूदने दीजिए, पर अब उसके कूदने को प्रणालीबद्ध करने की कोशिश कीजिए। मतलब यह कि मन को हाथ से चट पैर पर कूदने न दें, उसे हाथ से हाथ के ही अन्य भागों पर कुदाइये। अर्थात् समूचे हाथ को ध्यान में लाने का प्रयत्न करें। इष्टदेव के जिस चित्र पर आप ध्यान लगाते हैं, उस चित्र को बारम्बार बारीकी से देख लीजिए कि इष्टदेव के हाथों में क्या है, उनका पहनावा किस प्रकार का है, पैरों में वे क्या पहने हुए हैं, कानों में क्या है, गले में क्या है इत्यादि। समूचे हाथ को ध्यान में लाने के बाद मन इष्टदेव के गले पर ले जाइये। वहाँ से उनकी ठोढ़ी पर, फिर ओठों पर, फिर नासिका, आँखों और कानों पर, फिर मस्तक और सिर के केशों पर। अब केशों से नीचे उतरिये – उसी क्रम में। गले तक नीचे उतर कर मन में उनके समूचे मुखमण्डल को लाने की चेष्टा कीजिए। फिर धीरे-धीरे और नीचे उतरिये। उनकी दोनों भुजाओं और वक्षस्थल का ध्यान करें, फिर उनके पेट का, फिर कमर का, फिर जाँघों का और फिर उनके चरणों का। शृंखला को बिना तोड़े आप अब ठीक उलटे क्रम चरणों से केश तक जाइये। सम्भव है, बीच-बीच में पूर्व संस्कारवश शृंखला टूट जाती हो, पर प्रयत्नपूर्वक शृंखला को बनाये रखने का प्रयास करें। जिस अंग का ध्यान बैठते ही मन में आता हो, वहीं से ऊपर की ओर केश तक धीरे-धीरे जाइए – फिर केश से पैर तक, पुनः पैर से केशों तक। यह क्रिया जितनी बार हो सके दुहराएँ। यदि बीच में कोई अंग स्पष्ट न दीखता हो, तो आँखें खोलकर उनके चित्रपट में उस अंग को देख लें।

इस प्रकार का नियमित अभ्यास आपको अल्प काल में ही मनोवांछित फल दे सकता है। ❖ (क्रमशः) ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त-सार (१)

अनुवादक – स्वामी विदेहात्मानन्द

(समग्र उपनिषदों में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान को 'वेदान्त' की संज्ञा दी गयी है। श्री शंकराचार्य के काल से ही इस पर प्रकरण-ग्रन्थ लिखने की परम्परा शुरू हुई। अनुमानतः १५३८ ई. में श्री सदानन्द योगीन्द्र द्वारा विरचित यह 'वेदान्त-सार' ग्रन्थ भी उसी परम्परा की एक कड़ी है। इसमें वेदान्त की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण बातों का अत्यन्त सहज तथा क्रमबद्ध रूप से प्रतिपादन हुआ है। विवेक-ज्योति के पाठकों के लिए हम इसका एक सहज सुबोध अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

अखण्डं सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानम् अखिलाधारम् आश्रये अभीष्टसिद्धये ।।१।।

– जो मन-वाणी के अगोचर तथा सबकी अन्तरात्मा के आधार हैं; (ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्ति रूप) अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि हेतु मैं उन्हीं अखण्ड सच्चिदानन्द (ब्रह्म) की शरण लेता हूँ।

अर्थतः अपि अद्वयानन्दान् अतीत-द्वैतभानतः।
गुरून् आराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ।।२।।

– जो नाम से (अद्वयानन्द) और द्वैतबोध के परे जा चुके होने के कारण अर्थ से भी अद्वयानन्द हैं, उन गुरु की वन्दना करके अब मैं अपनी समझ के अनुसार वेदान्त का सार कहूँगा।

वेदान्तो नाम-उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरक-सूत्रादीनि च ।।३।।

– उपनिषदों-रूपी प्रमाण को वेदान्त कहते हैं और ब्रह्मसूत्र आदि (ग्रन्थ) उसमें सहायक हैं।

अस्य वेदान्त-प्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वत् असिद्धेः न ते पृथक्-आलोचनीयाः ।।४।।

– प्रस्तुत पुस्तक के वेदान्त के प्रकरण-ग्रन्थ होने के कारण उसी के अनुबन्धों (आकांक्षित सम्बन्धों) द्वारा इसकी भी अनुबन्ध-सिद्धि हो जाती है, अतः यहाँ उन पर अलग से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

अनुबन्ध-चतुष्टय

तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारि-विषय-सम्बन्ध-प्रयोजनानि ।।५।।

– (वेदान्त के) वे (चार) अनुबन्ध हैं – ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी, प्रतिपाद्य विषय, (प्रतिपादक ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय के साथ) सम्बन्ध तथा अध्ययन का प्रयोजन (फल)।

अधिकारी तु विधिवत्-अधीत-वेदवेदाङ्गत्वेन-आपाततः अधिगत-अखिल-वेदार्थः अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा

काम्य-निषिद्ध-वर्जन-पुरःसरं नित्य-नैमित्तिक-प्रायश्चित्त-उपासना-अनुष्ठानेन निर्गत-निखिल-कल्मषतया नितान्त-निर्मल-स्वान्तः साधनचतुष्टय-सम्पन्नः प्रमाता ।। ६।।

– साधन-चतुष्टय से सम्पन्न ऐसे प्रमाता (जीव) को अधिकारी कहते हैं, जिसने इस जन्म में अथवा पिछले किसी जन्म में विधिपूर्वक वेद-वेदाङ्गों[१] का अध्ययन करके वेदों के मर्मार्थ की उपलब्धि कर ली हो; जो काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग करने के उपरान्त नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना आदि कर्मों का अनुष्ठान करके समस्त मालिन्य (पापों) से मुक्त होने के फलस्वरूप अतीव निर्मल अन्तःकरण वाला होकर 'साधन-चतुष्टय' से सम्पन्न हो चुका हो।

काम्यानि – स्वर्गादि-इष्ट-साधनानि ज्योतिष्टोम् आदीनि ।।७।।

– स्वर्ग आदि अभीष्ट की प्राप्ति के लिए साधन-रूप किये जानेवाले ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ '**काम्य-कर्म**' (कहे जाते) हैं।

निषिद्धानि – नरकादि-अनिष्ट-साधनानि ब्राह्मण-हनन-आदीनि ।।८।।

– नरक आदि के कारणभूत होनेवाले ब्राह्मण-हत्या आदि '**निषिद्ध-कर्म**' कहलाते हैं।

नित्यानि – अकरणे प्रत्यवाय-साधनानि संध्या-वन्दन-आदीनि ।।९।।

– न किये जाने पर[२] अहित के कारण होनेवाले संध्यावन्दन (पंच महायज्ञ) आदि '**नित्य-कर्म**' कहलाते हैं।

नैमित्तिकानि – पुत्रजन्मादि-अनुबन्धीनि जातेष्टि-आदीनि ।।१०।।

– पुत्रजन्म आदि के उपरान्त किये जानेवाले जातकर्म आदि (संस्कार) '**नैमित्तिक-कर्म**' कहलाते हैं।

प्रायश्चित्तानि – पापक्षय-साधनानि चान्द्रायण-आदीनि ।।११।।

– पापक्षय के साधनरूप किये जानेवाले चान्द्रायण आदि (अनुष्ठान) '**प्रायश्चित्त-कर्म**'[३] कहे जाते हैं।

उपासनानि – सगुण-ब्रह्म-विषय-मानस-व्यापार-रूपाणि शाण्डिल्य-विद्या-आदीनि ।।१२।।

– सगुण ब्रह्म विषयक शाण्डिल्य-विद्या[४] आदि के रूप में की जानेवाली मानसिक क्रियाएँ 'उपासना' कही जाती हैं।

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनम् उपासनानां तु चित्त-एकाग्र्यम् 'तम् एतम् आत्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदि-षन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादि-स्मृतेश्च ।।१३।।

– इनमें से नित्य आदि कर्मों[५] का प्रमुख उद्देश्य चित्तशुद्धि है; परन्तु उपासनाएँ चित्त की एकाग्रता के लिए की जाती हैं, जैसा कि – "ब्राह्मण वेद-वाक्यों तथा यज्ञ के द्वारा इस आत्मा को जानने की कामना करते हैं।" (बृ.उ. ४/४/२२) आदि के द्वारा श्रुति में और "तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं।" (मनु. १२/१०४) आदि के द्वारा स्मृति में कहा गया है।

नित्यनैमित्तिकयोः उपासनानां तु अवान्तर-फलं पितृलोक-सत्यलोक-प्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः' इत्यादिश्रुतेः ।।१४।।

– पितृलोक, सत्यलोक की प्राप्ति के रूप में नैमित्तिक कर्मों तथा उपासना के अवान्तर या गौण फल भी होते हैं, जैसा कि "वैदिक कर्मों (यज्ञों) के अनुष्ठान से पितृलोक[६] तथा विद्या (उपासना) के द्वारा देवलोक की प्राप्ति होती है।" (बृ.उ. १/५/१६) आदि के द्वारा श्रुति में बताया गया है।

साधनानि – नित्यानित्य-वस्तुविवेक-इहामुत्र-फलभोग-विराग-शमादि-षट्क-सम्पत्ति-मुमुक्षुत्वानि ।।१५।।

– (१) नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, (२) कर्मफलों से इह तथा परलोक में प्राप्त होनेवाले भोगों से विरक्ति, (३) मनःसंयम आदि छह सम्पत्तियाँ और (४) मोक्ष की इच्छा – ये **(ज्ञानप्राप्ति के) साधन** कहे जाते हैं।

नित्य-अनित्य-वस्तु-विवेकः तावत् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततः अन्यत् अखिलम् अनित्यम् इति विवेचनम् ।।१६।।

– इनमें से "एकमात्र ब्रह्म ही नित्य (सदा विद्यमान) वस्तु है, और उसके अतिरिक्त अन्य सभी कुछ अनित्य (क्षणिक) है" – ऐसा विचार करना '**नित्यानित्य-वस्तु-विवेक**' है।

ऐहिकानां स्रक्-चन्दन-वनिता-आदि-विषयभोगानां कर्मजन्यतया अनित्यत्ववत् अमुष्मिकाणाम् अपि अमृत-आदि-विषय-भोगानाम् अनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः – इहामुत्रार्थ-फलभोग-विरागः ।।१७।।

– इस लोक के पुष्प, चन्दन, नारी आदि (जागतिक) विषय-

१. वेदाङ्ग छह हैं – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। २. प्रत्यवाय = अनिष्ट या पाप; मीमांसकों के मतानुसार 'नित्यकर्म' आदि न करने से पाप होता है। ३. कृच्छ्र आदि चार तरह के 'प्रायश्चित्त' कर्मों के लिए देखिए मनुस्मृति (११/२१२-२२०) ४. विद्या = उपनिषदों में दहर, गायत्री आदि तीस से भी अधिक तरह की उपासनाओं के विवरण है। शाण्डिल्य-विद्या – देखिए छान्दो. (३/१४/१)

५. नित्यादीनाम् = स्मृति में अन्यत्र कथित हैं – 'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।' और नैष्कर्म्य सिद्धि (१.५२) में बताया गया है कि किस प्रकार ये परम ज्ञान की प्राप्ति कराते है।

६. पितृलोक = जैसा कि आगे १०४वें सूत्र में बताया जायगा, इस ब्रह्माण्ड मे कुल चौदह लोक हैं। पितृलोक, भुवर्लोक के अन्तर्गत है। देवलोक का अर्थ है ब्रह्मा का लोक या सत्यलोक।

भोग और परलोक में प्राप्त होनेवाले देवत्व आदि (स्वर्गिक) विषयभोग – ये कर्म से उत्पन्न होने के कारण अनित्य (क्षणभंगुर) हैं, ऐसा जानकर इन दोनों के प्रति तीव्र विरक्ति को **इहामुत्र-फलभोग-विराग** कहते हैं।

शमादयः तु – शमदम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा-आख्याः ।।१८।।

– शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा – इन्हें **शमादि** (षट् सम्पत्ति) कहते हैं।

शमः तावत् – श्रवणादि-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यो मनसो निग्रहः ।।१९।।

– शास्त्रवाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से मन का निग्रह **शम** कहलाता है।

दमः – बाह्येन्द्रियाणां तद्-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यो निवर्तनम् ।।२०।।

– इन्हीं श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अतिरिक्त अन्य समस्त विषयों से बाह्य इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) का निग्रह **दम** कहलाता है।

निवर्तितानाम् एतेषां तद्-व्यतिरिक्त-विषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः ।।२१।।

– इस प्रकार संयमित (निगृहीत) बाह्य इन्द्रियों का उनके (श्रवण, मनन, निदिध्यासन के) अलावा अन्य विषयों से उपरमण (लौट आना) अथवा शास्त्रों में विहित कर्मों के अनुष्ठान का विधिपूर्वक परित्याग **उपरति** कहलाता है।

तितिक्षा – शीतोष्णादि-द्वन्द्व-सहिष्णुता ।।२२।।

– शीत-उष्ण (सुख-दु:ख, लाभ-हानि) आदि द्वन्द्वों को सहन करना (या सम भाव से स्वीकार करना) **तितिक्षा** कहलाता है।

निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुण-विषये च समाधिः – समाधानम् ।।२३।।

– (शम आदि से) संयमित किये हुए मन का (शास्त्र-वाक्यों आदि के) श्रवण आदि (मनन, निदिध्यासन) तथा उसके आनुषंगिक (विनय, गुरुसेवा, स्वाध्याय आदि) विषयों में एकाग्रता (सतत नियोग) को **समाधान** कहते हैं।

गुरु-उपदिष्ट-वेदान्त-वाक्येषु विश्वासः – श्रद्धा ।।२४।।

– गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदान्त की उक्तियों में विश्वास को **श्रद्धा** कहते हैं।

मुमुक्षुत्वं – मोक्षेच्छा ।।२५।।

– मोक्ष (या मुक्ति) की इच्छा के भाव को **मुमुक्षा** कहते हैं।

एवम्भूतः प्रमाता-अधिकारी 'शान्तो दान्त' इत्यादि-श्रुतेः । उक्तं च – 'प्रशान्त-चित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीण-दोषाय यथोक्त-कारिणे । गुणान्विताय अनुगताय सर्वदा प्रदेयम् एतत् सकलं मुमुक्षवे ।।' इति ।।२६।।

– ऐसे (चारों साधनों से युक्त) जिज्ञासु को **अधिकारी** कहते हैं, जैसे कि 'जिसकी मन तथा इन्द्रियाँ संयमित हैं।' (बृ.उ. ४/४/२३) आदि के द्वारा श्रुति में कहा है। साथ ही यह भी कहा गया है, 'जिसका चित्त शान्त है, जो इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, जिसके (काम, क्रोध आदि) दोष क्षीण हो चुके हों, जो सतत आज्ञाकारी हो – ऐसे मुमुक्षु को ही यह सब (उपदेश) प्रदान करे।' (उपदेशसाहस्री, ३२४/१६/७२)

विषयः – जीवब्रह्म-ऐक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम् । तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात् ।।२७।।

– शुद्ध चैतन्य रूप जीव तथा ब्रह्म की एकता की अनुभूति ही विषय[७] है, क्योंकि यही वेदान्त का **तात्पर्य** (उद्देश्य) है।

सम्बन्धः तु – तत्-ऐक्य-प्रमेयस्य तत्-प्रतिपादक-उपनिषत्-प्रमाणस्य च बोध्य-बोधक-भावः ।।२८।।

– उस (जीव-ब्रह्म के) एकत्व का बोध तथा उसका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद्-प्रमाण के बीच बोध्य-बोधक (साध्य-साधन) भाव को **सम्बन्ध** कहते हैं।

प्रयोजनं तु – तत्-ऐक्य-प्रमेयगत-अज्ञान-निवृत्तिः स्व-स्वरूप-आनन्द-अवाप्तिश्च 'तरति शोकम् आत्मवित्' इत्यादि-श्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च।।२९।।

– उस (जीव-ब्रह्म के) एकत्व में स्थित अज्ञान का दूर होना तथा अपने स्वरूप के आनन्द की उपलब्धि को '**प्रयोजन**' (फल) कहते हैं। जैसा कि "आत्मज्ञानी दु:खों से पार हो जाता है।" (छा.उ. ७/१/३) और "ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है।" (मु.उ. ३/२/९) आदि श्रुतियो में निर्दिष्ट है।

७. प्रमेय = ऐसा विषय जो यथार्थ ज्ञान के योग्य हो।

❖ (क्रमशः) ❖